श्रीपुरुषोत्तमग्रन्थावली ५

द्रव्यशुद्धिदीपिका
भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृतिः
उत्सवप्रतानः



श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

प्रकाशकः
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, मांडवी–कच्छ,
गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१४६३
gosharad@rediffmail.com

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

www.pushtimarg.net

सम्पादक : गोस्वामी शरद्

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६९

प्रति : १०००

ग्रन्थप्रकाशन सहाय : १००/

मुद्रक : पूर्वी प्रेस, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:

१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर
२. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
३. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
४. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
५. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६. वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
७. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
८. साधनाप्रणाली, मुम्बई
९. सेवा-समर्पण, मुम्बई
१०.कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११.शरणागति, मुम्बई
१२.पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध, मुम्बई
१३.जघन्याधिकार, मुम्बई
१४.पुष्टिफलमीमांसा, मुम्बई
१५.World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१६.International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat)

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१. तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२. वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

१. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
२. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	नि:शुल्क
३. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (अंग्रेजी)	नि:शुल्क
४. पुष्टिप्रवेश-१, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
५. पुष्टिप्रवेश-२, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
६. पुष्टिप्रवेश-१-२, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	१०
७. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	२०
८. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	२०
९. प्रमेयरत्नसंग्रह, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	२०
१०. Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्	६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित साम्प्रदायिक विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे
विभिन्न शोधपत्र तथा उनपर हुई विशद चर्चा का संग्रह

११. वार्तापरिचर्चा	१५
१२. साधनाप्रणाली संगोष्ठी	५०
१३. अधिकारपरिचर्चा	१००
१४. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	५०
१५. शरणागति विचारगोष्ठी	५०
१६. सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०

१७. शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी(गुजराती) नि:शुल्क
१८. पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध १००
१९. जघन्याधिकार ८०
२०. पुष्टिफलमीमांसा १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनारमें प्रस्तुत हुवे विभिन्न शोधपत्र तथा चर्चा का संग्रह (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)

२१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
२२. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२३. कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२४. प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२५. अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२६. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठः

२७. पुष्टिपाठावली (हिन्दी) १०
२८. पुष्टिपाठावली (गुजराती) १०
२९. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थः

३०. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
३१. Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
३२. अमृत वचनावली (गुजराती) निःशुल्क
३३. अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क
३४. पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थः

३५. पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००
३६. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०
३७. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
३८. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
३९. श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमें (गुर्जरभाषानुवाद) ४००
४०. विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
४१. गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
४२. गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
४३. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
४४. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५

४५. श्रीकृष्णचरित्र(दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद)अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी ८०

४६. श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्.
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित ५०

४७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

४८. सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

४९. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती)
गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०

५०. सेवाकौमुदी(हिन्दी), विषय : नवधाभक्ति, लेखक : श्रीलालूभट्टजी,
व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

५१. ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५२. भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५३. सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५४. सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५५. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

५६. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

५७. कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद ०७

इतिहास

५८. आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५९. आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह-संरक्षण; पुस्तकालय

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गीय वाङ्मय :

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गके आधारभूत संस्कृत-व्रज-गुजराती आदि भाषामें लिखित मूल गद्य-पद्य ग्रन्थसाहित्य, उनका अनुवाद एवं उनके ऊपर लिखित विवेचन आदिका (साम्प्रदायिक

शब्दकोश, साम्प्रदायिक वचनानुक्रमणिका, भगवद्गीतापादानुक्रमणिका आदि सहित अध्ययनोपयोगी साहित्यका) बृहत् संग्रह. डाउनलोड् एवं मार्गदर्शन केलिये लिंक :
http://www.pushtimarg.net/pushti/pushti-vangmay.html

वर्तमानमें निम्नलिखित ग्रन्थ शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गीय वाङ्मय :में उपलब्ध हैं :

षोडशग्रन्थ (सभी संस्कृत टीका, हिन्दी ग्रन्थपरिचय, गुजराती अनुवाद सहित)

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

–शास्त्रार्थप्रकरण (टिप्पणी–आवरणभङ्ग–योजना–सत्स्नेहभाजन, अनु.= गुज.–व्रज)

–सर्वनिर्णयप्रकरण (संस्कृत टीका = टिप्पणी–आवरणभङ्ग, अनु. =व्रजभाषा)

–भागवतार्थप्रकरण (सभी संस्कृत टीकाएं)

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य

शिक्षापद्यानि (सभी संस्कृत टीकाएं)

मधुराष्टकम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

परिवृढाष्टकम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

पुरुषोत्तमनामसहस्रम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

त्रिविधनामावली (सभी संस्कृत टीकाएं)

सुबोधिनी (स्कन्ध १ तथा २ संस्कृत)

सेवाश्लोका

विद्वन्मण्डनम् (मूल तथा गुजराती अनुवाद)

सौन्दर्यपद्य (व्रजभाषा टीका)

साधनदीपिका (मूल तथा व्रजभाषा तथा गुजराती अनुवाद)

पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार(मूल–संस्कृतटीका–हिन्दी अनुवाद)

श्रीभागवतपुराण (स्कन्ध १–७, १०,११ मूल तथा हिन्दी–गुजराती अनुवाद)

श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावली(५५ ग्रन्थ, मूल तथा गुजराती अनुवाद)

द्रव्यशुद्धि (मूल तथा गुजराती–व्रजभाषा अनुवाद)

८४ वैष्णववार्ता (मूल–भावप्रकाश, व्रजभाषा)

२५२ वैष्णववार्ता (मूल–भावप्रकाश, व्रजभाषा)

४१ शिक्षापत्र (मूल तथा व्रजभाषा टीका)

प्रस्थानरत्नाकर

अवतारवादावली खंड २, ३

वादावली

भगवद्गीतामृततरंगिणी

वल्लभाष्टकम्

सर्वोत्तमस्तोत्रम्

श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ : शीघ्र ही कार्यरत होने जा रही यह विद्यापीठ अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज होगी. http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल–वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओंकेलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा तीन माध्यमोंसे होता है: १.टेलिफोनिक कोन्फरन्स्, २.इंटर्नेट् द्वारा लाईव् ऑडियो तथा ३. इंटर्नेट् द्वारा लाईव् वीडीयो कोन्फरन्स्. विशेष जानकारीकेलिये फोनसम्पर्क योगेन्द्रभाई: (+91) 9323733796 पिनाकीनभाई:(+91)9726444515. नीरजभाई(यु.एस्.ए.): +7325424165. ईमेलसम्पर्क: pushtiswadhyay@gmail.com.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके
मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ [संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ]

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्(१-५)

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी(६-११)

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्(१२-१६)

२. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः(श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रम्, त्रिविधनामावली, प्रेमामतम्, श्रीपरिवृढाष्टकम्, मधुराष्टकम्, शिक्षाश्लोकी) [संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ]

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित

खंड १. प्रथमाध्याय [नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ]

खंड २. प्रथमाध्याय [नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ]

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण

६.श्रीपुरुषोत्तमग्रन्तावली

खंड-१. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

खंड-२. प्रस्थानरत्नाकर

खंड-३. अवतारवादावली-२ (भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.)

खंड-४. अवदारवादावली-३ (ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद,जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः, उपदेशादिविषककशंका-निरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेःशंकानिरासवादः.

खंड-५. द्रव्यशुद्धिदीपिका, भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृतिः, उत्सवप्रतानः

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

१२. पुष्टिविधानम् (गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण)

१३. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१४. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

१५. वादावली (ब्रह्मवादप्रमुखानाम् अनेकवादानां संकलनरूपा) ब्रह्मवादः, वादकथा, विग्रहवादः, प्रपञ्चवादः, प्रपञ्चसंसारभेदवादः, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वनिरूपणम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरणसमालोचनम्, केवलाद्वैत-वादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः.

क्रमांक १- २, ४/१- ४/२ तथा ६/५ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

-वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह
-भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुज.)
-पुरुषोत्तमयोग (गुज.-हिन्दी)
-धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना (हिन्दी-गुज)
-श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
-सिद्धान्तनुं आचमन : प्रश्नोत्तरी (गुज.)
-नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण (गुजराती-हिन्दी)
-साकारब्रह्मवाद(तत्त्वचिंतन भक्ति संस्कृति विमर्श)
-शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुज.)
-तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम (गुज.)
-सेवा (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) (गुजराती-हिन्दी)
-रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
-विशोधनिका (चार खंड)
-श्रीयमुनाष्टकम्
-गृहसेवा और व्रजलीला (गुज.-हिन्दी)
-नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
-सिद्धान्तसूक्ति (गुज.)
-पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुज.)
-विवेक
-वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति
-भक्तियोग
-सेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)

संपर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसाय्टी, ४ था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम), मुम्बई. फोन : (०२२) २६१४४३२६

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

प्रकाशकीय

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योपदिष्ट पुष्टिमार्गीय साधनामें सेवासाधनाका स्थान अनन्य है. भगवत्सेवा पुष्टिभक्तोंकेलिये यद्यपि स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा—फलरूपा होती है तथापि सेवाकर्ताकी अवस्था किंवा कक्षा के भेदसे उसकी धर्मरूपता भी स्वीकार्य है ही. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण लिखते हैं : ''**पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मः**''. शास्त्रोंमें जिस तरहसे धर्मके षडङ्ग : देश–काल–द्रव्य–कर्ता–मन्त्र–कर्म का गम्भीर विचार हुवा है उसी तरह पुष्टिभक्तिमार्गमें भी धर्मस्थानी कृष्णसेवाके देश–कालादि षडङ्गोंके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपका निरूपण प्रमुखतया : षोडशग्रन्थ, शिक्षाश्लोकाः, पञ्चश्लोकी, तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णयप्रकरणान्तर्गत साधनप्रकरण आदि ग्रन्थोमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणोंने किया है. जबकि नित्यसेवाकी विधिका निरूपण श्रीवल्लभाचार्यचरणोंके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथप्रभुचरणोंने अपने 'साधनदीपिका' नामक ग्रन्थमें किया है. धर्माङ्गभूत मन्त्रका जहां तक प्रश्न है तो पुष्टिभक्तिमार्गीय भगवत्सेवामें सम्प्रदायके मूलाचार्य एवं उनके कृपापात्र भगवदीयों के भक्तिभावात्मक वचन ही मन्त्रस्थानी माने जाते हैं. इनका निरूपण श्रीगोपीनाथप्रभुचरण विरचित 'सेवाश्लोकाः' आदि ग्रन्थोंमें तथा बहुप्रचलित कीर्तन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है.

यहां यह अवधेय है कि श्रौत–स्मार्त धर्मोंमें कर्ता प्रमुखतः वर्णाश्रमी होता है. कर्ताको नित्य–नैमित्तिक–काम्यके भेदसे जो कर्म करणीय होते हैं तदनुसार उनके काल–देश–द्रव्य–मन्त्रका निर्णय किया जाता है. कर्ममार्गमें कर्मका प्राधान्य होता है अतः देवता कर्मके अङ्ग–द्रव्य माने जाते हैं. कर्ममार्गके विपरीत भक्तिमार्गमें कर्मकी तुलनामें आराध्य देवका प्राधान्य होता है.

भक्तिमार्गकी दृष्टिसे भक्ति–सेवासाधनाके मुख्य घटक : [१]सेव्य, [२]सेवा और [३]सेवक होते हैं. इनमेंसे प्रथम अर्थात् [१]सेव्य तो क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण क्योंकि नित्य अपरिच्छिन्न होते हैं, अतः देश–कालातीत हैं. अतएव ऐसे सेव्यकी [२]सेवा भी देश–कालके शास्त्रीय नियमोंसे बंधी हुयी न हो कर, भक्तिभावसे भक्त जहां–जब श्रीकृष्णकी सेवा करता है तब–वहां श्रीकृष्ण उसके ऊपर अनुग्रह करके उसकी सेवाको स्वीकारते हैं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणोंने श्रीकृष्णकी सर्वदा–सर्वत्र भजनीयताके इस सिद्धान्तको 'चतुःश्लोकी' ग्रन्थमें ''**<u>सर्वदा</u> सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः, स्वस्य अयमेव धर्मो हि न अन्यः <u>क्वापि कदाचन</u>**'' इन शब्दोंमें घोषित किया है.

[३]सेवक–जीव, क्योंकि, भगवदंश होते हैं अतः जीवस्वरूपके विचारसे तो जीवमात्रका स्वधर्म भगवत्सेवा ही होता है. तथापि भगवान्‌की भिन्न–भिन्न जीवोंको भिन्न–भिन्न फलोंका दान करनेकी इच्छाके कारण भगवान् जीवोंका वरण पुष्टि–मर्यादा–प्रवाह भेदसे भिन्न–भिन्न मार्गोंकेलिये करते हैं. तदनुसार भगवान्, क्योंकि, पुष्टिमार्गीय फल केवल पुष्टिजीवोंको ही प्रदान करते हैं अतः केवल पुष्टिजीव ही पुष्टिभक्तिमार्गमें अधिकृत माने गये हैं.

जीवचेतना, क्योंकि, **''एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्, एष चेतनया युक्तो 'जीव' इत्यभिधीयते''**(भाग.पुरा.४।२९।७४) वचनानुसार प्राण-अन्तःकरण-इन्द्रिय-तन्मात्रादिसे युक्त होती है. अतः ऐसी मिश्र अवस्थामें अध्यस्त चेतनाकेलिये शुद्ध 'स्व'का निर्धारण कर पाना दुष्कर हो जाता है. इसी कारण स्वधर्मका निर्धारण भी जटिल बन जाता है. 'स्व' यद्यपि आत्माका वाचक होता है. तथापि देहादिमें फंसा हुवा जीव अपने आपको देहादि समझने लगता है. ऐसेमें, देहाध्यासादिके बने रहने पर भी, भगवत्सेवाके आत्मधर्मरूप होनेके केवल शास्त्रीय ज्ञानके आधारपर, पुष्टिमार्गीकेलिये देहधर्मकी उपेक्षा निरे पाषण्डमें पर्यवसित होगी. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण श्रीभागवतके तृतीयस्कन्धकी **''स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्''** कारिकाकी सुबोधिनी विवृतिमें पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ताकेलिए स्ववर्णाश्रमधर्मके पालनकी आवश्यकता पर भार देते हुवे लिखते हैं कि :

> **''मनुष्यको स्वधर्मका आचरण करना चाहिये. 'स्वधर्म' अर्थात् देहधर्मका आचरण. अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार शास्त्र हमें जिन कर्तव्योंके पालनका आदेश करता है उनका यथाशक्ति पालन करना चाहिये. शास्त्र भी कहता है : ''जितना किया जा सके उतना करो''. स्ववर्णाश्रमधर्मका पालन करनेमें समर्थ होते हुवे भी उनका अल्प अथवा अधूरा पालन नहीं करना चाहिये. ...जहां तक देहादिकोंमें आत्माका अध्यास है तब तक तो वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होते हैं, भगवद्धर्मादि भी विधर्म या परधर्म कहे जायेंगे. परन्तु जब मनुष्य अपने आपको ''मैं देहादि सङ्घातसे भिन्न जीव हूं'' ऐसा मानने लगे तब तो भगवद्दास्य ही स्वधर्म होता है, अन्य वर्णाश्रमादि धर्म परधर्म बन जाते हैं''.***

इन वचनोंका निष्कृष्ट तात्पर्य समझाते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणोंके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथप्रभुचरण 'साधनदीपिका' ग्रन्थमें लिखते हैं कि :

> **''दहेधारीकेलिये कर्मोंका निःशेष त्याग कर पाना सम्भव नहीं है. जब कर्म करने ही पड रहे हैं तो स्वधर्मका ही पालन करना चाहिये. ऐसा न करने पर स्वधर्मत्याग और स्वच्छन्दाचरण का दुगना अपराध होगा. अतः विधर्माचरणसे बचते हुवे भक्तिशास्त्रके अनुकूल रह कर यथाशक्ति स्वधर्मका आचरण करना चाहिये''**.(साधनदीपिका श्लो.१५-१७)

इस खंडमें प्रकाशित किये जा रहे गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित १.द्रव्यशुद्धिदीपिका, २.भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृति तथा ३.उत्सवप्रतान —इन तीन

*''**स्वधर्माणां** देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानाम् आचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यम्, न तु शक्तावपि सङ्कोचः. शास्त्रमपि ''यच्छक्नुयात् तत् कुर्यात्'' इति. ...यावद् (विपर्याभ्यासदार्ढ्येन आत्मतया भातः[प्रकाश])देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्मा वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते, सङ्घातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मः. अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः''. (भाग.सुबोधिनी ३।२८।२)

ग्रन्थोंकी भूमिकाके रूपमें उल्लिखित निरूपणकी प्रासङ्गिकता यह है : धर्मकी सिद्धिकेलिये उसके देश–कालादि षडङ्गोंका शास्त्रशुद्ध होना आवश्यक होता है. पुष्टिभक्तिमार्गमें, क्योंकि, भगवत्सेवाको धर्मस्थानी माना गया है इसलिये और पुष्टिमार्गीय सेवाकर्ताको यावद्देहाभिमान स्ववर्णाश्रमधर्मोंका पालन करना आवश्यक होता है अतः देहाभिमानी वर्णाश्रमी सेवाकर्ताके विचारसे सेवानुकूल **देश** और **द्रव्य** इन दो धर्माङ्गोंकी शुद्धिका शास्त्रीय निरूपण 'द्रव्यशुद्धिदीपिका' ग्रन्थमें किया गया है जब कि धर्माङ्ग **काल**के सेवानुकूल स्वरूपका शास्त्रीय विचार 'उत्सवप्रतान' ग्रन्थमें किया गया है. और 'भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृति' ग्रन्थमें धर्माङ्गभूत **कर्ता**द्वारा भक्तिमार्गका अनुसरण करते समय सम्भावित अपराधोंका और उनके निवारणके उपायका निरूपण किया गया है.

यहां यह अवधेय है कि धर्मशास्त्रमें देश–काल–द्रव्य–मन्त्र–कर्मके एक नहीं, अनेक अनुकल्प–विकल्प कर्ताको दिखलाये गये हैं. आवश्यकता, परन्तु, यह है कि कर्ता शुद्ध हो. सिंदूरसे भरी मांग हो, गलेमें मंगलसूत्र हो, हाथोंमें पूजाकी थाली हो, चहेरा घूंघटसे ढंका हुवा हो पर ऐसी स्त्री यदि स्वैरिणी हो तो! जब स्वयं कर्ता ही अशुद्ध/अनधिकारी हो तब उत्तमोत्तम काल–देश–द्रव्य–मन्त्र–कर्म भी आडंबर मात्र रह जाते हैं. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थके उपसंहारमें लिखते हैं कि **''गङ्गाके तट पर निवास करनेवाला यदि गङ्गाके प्रति भक्तिभावसे रहित है तो वह अपने दुष्ट आचरणके कारण पापका भागी बनता है. उसी तरह भक्तिभावसे रहित मनुष्य यदि भगवान्–भगवत्स्थान–भक्तके निकट रहता है तो, वहां रहना ही उसके अधःपतनका कारण बन सकता है''**(सिद्धान्तमुक्तावली २०). भक्तिमार्गमें, इसलिये, अपने भजनीयके प्रति निरुपाधिक–निष्काम–शुद्ध प्रेमभावका होना सर्वथा आवश्यक है. आत्मनिवेदित होकर, स्वगृहमें व्रजाधिप श्रीकृष्णको पधराकर, उनको ही अपना सर्वस्व मानकर, निवेदित स्वसर्वस्वका उनकेलिये विनियोग करते हुवे प्रेमसे स्वयं उनकी सेवा करना यह पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवासाधनाका सैद्धान्तिक स्वरूप है. 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थोक्त, अपने सभी खान–पान–यज्ञ–श्राद्ध–दानादि लौकिक–वैदिक कार्यमात्रका स्वसेव्यको समर्पण करना और स्वसेव्यकी सेवामें समर्पित न हों ऐसे घर–धनादि वस्तु मात्र तथा जगना–स्नान–खान–पानादि व्यवहार मात्रका त्याग करना —इन भगवदाज्ञाओंका पालन स्वगृहमें विराजमान प्रभुकी सेवामें स्वतनुवित्तके विनियोगके बिना असम्भव ही नहीं अकल्पनीय है. विडम्बना यह है कि आज अधिकांश उपदेशक अपने सेव्य और उनकी सेवा को पैसे कमाने साधन बना बैठे हैं. पुष्टिभक्तिमार्गके नामपर चलनेवाली उनकी हवेलियां, जो कभी गुरुघर होती थीं, पर आज सार्वजनिक मन्दिरमें परिवर्तित की जा चुकी हैं, उनमें में भक्तिके नामपर सेवा, दर्शन, मनोरथ, प्रसाद, तुलसी–चरणामृत, दीक्षा, कीर्तन, कथा ... सब कुछ बिकता है. इन सबके निमित्त पैसे मांगकर पुष्टिमार्गके अधिकांश आचार्य(!) अपनी आजीविका चलाते हैं. शास्त्रमें स्पष्ट लिख है कि भगवत्सेवाके द्वारा आजीविका चलानेवाला 'देवलक' चंडालके जितना अपवित्र बन जाता है! कहना आवश्यक नहीं है कि ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गके अधिकांश गुरुओंकी स्थिति ''इतो

भ्राष्टः ततो भ्रष्टः'' जैसी हो चुकी है. सेवा–कथाको धंधा बनानेके कारण भक्तिमार्गसे तो भ्रष्ट हो ही गये, देवलकताके कारण चंडाल जितने अपवित्र हो जानेके कारण शास्त्रीय भी समस्त अधिकारोंसे भ्रष्ट हुवे. दूसरी ओर अधिकांश अनुयायी दुकान नुमा इन हवेलियोंमें सेवा–दर्शन–मनोरथके स्पोन्सर(प्रायोजक) बन कर और देवद्रव्यके पातित्यकारक प्रसादको खाकर अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं. इन अपराधोंके कारण इनकी भी स्थिति उनके गुरुओंकी ही तरह ''इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः'' जान पड़ती है. गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण लिखते हैं कि **''धन देकर सेवा करवाने पर धनदाता अहंकारी बनता है, उसका चित्त कभी भी भगवत्प्रवण नहीं बन सकता है. ...जिस तरह दक्षिणा देकर याग करवाने पर यागका फल दक्षिणा देनेवालेको मिलता है ऐसा, किन्तु, भक्तिमार्गमें सम्भव नहीं है. क्योंकि कर्ममार्गमें तो धन देकर यज्ञादि कर्म करवाना शास्त्रविहित है. परन्तु ऐसा करनेकी आज्ञा भक्तिमार्गमें भगवानने दी नहीं है अतः ऐसा नहीं करना चाहिये, पर भगवानने जैसा करनेकी आज्ञा दी है उसी तरह करना चाहीये. ऐसा करने पर ही साधनरूपा तनुवित्तजा सेवा साध्यरूपा मानसीसेवा बनकर व्रजभक्तोंकी तरह फलित होगी''** (सिद्धान्तमुक्तावली–विवृतिप्रकाश २). इससे स्पष्ट है कि किसीको पैसे देकर उससे सेवा–मनोरथ करवाना न केवल भगवदाज्ञाका तिरस्कार करना है अपितु भक्तिसे विपरीत परिणामका जनक होनेसे भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करनेवाला भी होता है. विशेषमें देवद्रव्यका प्रसाद खानेके कारण महापतित होनेसे ये शास्त्रीय अधिकारसे भी भ्रष्ट होते हैं. गुरु–शिष्य दोनों उभयतो भ्रष्ट सिद्ध हो रहे हैं फिर भी महामोह कैसा है कि कोई तो जगद्गुरु बननेकी रेसमें खड़ा है तो कोई $२५०१ और $१५०१ डॉलर् देकर अपना नाम ८४–२५२ वैष्णवोंकी सूचिमें लिखवानेमें लगे हैं. यह देखकर अनायास ही ''उभावप्यश्रुतग्रन्थौ उभावपि जडात्मकौ, अहो मोहस्य माहात्म्यं तत्रैकः शिष्यातांगतः!'' उक्तिका स्मरण हो आता है.

इस तरह हम देख सकते हैं कि एक ओर तो वर्णाश्रमधर्म इनको धर्मबहिष्कृत मानता है तो दूसरी ओर भक्तिमार्ग इनको अनधिकारी मानता है. उभयतः पाशकी इस स्थितिमें, प्रमुखतः वर्णाश्रमी भक्तिमार्गीको उद्देश्य बनाकर लिखे गये द्रव्यशुद्धिदीपिका भक्तिमार्गीयापराध–निरूपणविवृति तथा उत्सवप्रतान इन तीनों ग्रन्थको पृष्ठभूमिमें रखकर विचार किया जाये तो, कुछ यक्षप्रश्न खड़े होते हैं जिनपर विचार करना आजकी स्थितिमें परमावश्यक लगता है. यथा,

–जो गुरु अपने सेव्यकी सेवाके द्वारा अपनी वृत्ति चलाते हैं वे देवलकताके कारण सदा ही चण्डालवत् अपवित्र हो चुके होनेसे उनको 'द्रव्यशुद्धि' ग्रन्थोक्त शुद्धिके प्रकारोंमेंसे ब्राह्मणाधिकारक शुद्धिके प्रकारको अपनाना चाहिये या फिर अपने आपको चाण्डालवत् अपवित्र मानकर 'द्रव्यशुद्धि'का अविषय मान लेना चाहिये?

–देवलकताके कारण ब्राह्मणत्वसे हाथ धो बैठने पर और स्वधर्मरूपा भगवद्भक्तिको पैसे कमानेका साधन बनानेके कारण भक्तिमार्गसे भी बहिष्कृत हो जाने पर जो अब गुरु ही नहीं रह गये हैं उनके प्रति भेदबुद्धि रखना अपराध है या देवबुद्धि रखना अपराध है?

–जो अपने मूलाचार्यका द्रोही हो ऐसे गुरुका आदर न करना अपराध है या उसका अपमान–

निन्दा न करना अपराध है?

–देवलक गुरुका स्पर्श, गृहवास आदि होने पर शिष्यको अपनी तथा गृहादिकी शुद्धि कैसे करनी?

–दूसरेके पाससे द्रव्यादि लेकर सेवा करना भगवदाज्ञासे विरुद्ध है. ऐसी सेवा जब स्वयं भगवान् ही स्वीकार नहीं करते हैं तब पुष्टिमार्गीय सेवाके नाम पर सम्प्रदायमें सर्वत्र आज जिनको अभूतपूर्व बढावा दिया जा रहा है वो भोग–राग–शृंगार क्या भस्महोमतुल्य नहीं कहे जायेंगे?

इस प्रास्ताविकके साथ सम्पादकीय उत्तरदायित्वको निभाते हुवे इतना निरूपण करना शेष रहता है कि इस ग्रन्थमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित

१. द्रव्यशुद्धिदीपिका

२. भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृति

३. उत्सवप्रतान

—इन तीन ग्रन्थोंका प्रकाशन किया जा रहा है.

१. द्रव्यशुद्धिदीपिका :

भारतमार्तण्ड श्रीगट्टुलालजीके संग्रहसे प्राप्त हस्तलिखित प्रतिके आधारपर इस ग्रन्थका प्रकाशन वि.सं.१९५५ में श्रीगोवर्धनदास लक्ष्मीदास, यदुवंशीय पुस्तकालय, मुम्बई द्वारा व्रज तथा गुर्जर भाषानुवाद सहित हुवा था. इसके पुनः प्रकाशनके अवसर पर, पाठभेदके निर्धारणार्थ, इस पुस्तकके साथ इस ग्रन्थकी [१]मांडवी ग्रन्थागार तथा [२]भुवनेश्वरी पीठ, गोंडल से प्राप्त अन्य दो प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंका मिलान किया गया है.

अनुवादोंके सम्बन्धमें यह ध्यातव्य है कि दोनों अनुवाद भिन्न–भिन्न विद्वानों द्वारा किये गये हैं. शास्त्रवचनोंके अर्थोंमें दोनोंके बीच अनेक स्थानों पर भिन्न मत दिखलाई देते हैं. कहीं गुर्जर तो कहीं व्रज भाषानुवाद उपयुक्त प्रतीत होता है. सुज्ञ अध्येताओंको तो स्वकर्तव्य निर्धारणार्थ मूलपर ही निर्भर रहना चाहिये.

इस ग्रन्थमें कब–कहां–क्यों–कैसे स्नान करना, रात्रिके समय जन्म–मरण–रजोदर्शन होने पर कालका निर्धारण कैसे करना, रजस्वला सम्बन्धी शुद्धि, स्पर्शदोष कब मानना कब नहीं मानना, भगवत्सेवा तथा पितृकर्म विषयक शुद्धि, वस्त्र–पात्र–शय्या–धान्य–सिद्धान्न–घृतपायस–उदक–जलाशय–भूमि–गृह–रथ्या आदिकी शुद्धि, प्रकीर्ण विषयोंकी शुद्धि तथा आत्माकी शुद्धि जैसे विषयोंपर शास्त्रीय विचार हुवा है.

२. भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृति

इस ग्रन्थका प्रकाशन इदम्प्रथमतया किया जा रहा है. इसका प्रकाशन समादरणीय

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ–पार्ला) से प्राप्त [१]श्रीगट्टुलालजी संग्रह–मुम्बईकी हस्तलिखित पुस्तक तथा [२]मांडवी ग्रन्थागार एवं [३]भुवनेश्वरी पीठ–गोंडल से प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकोंकी सहायतासे किया गया है.

इस ग्रन्थमें भक्तिमार्गमें अपराधः किसे माना जाता है उसकी परिभाषा देते हुवे ग्रन्थकारने उपक्रममें पाप और अपराधके बीच भेद समझाया है. आगे वराहपुराण तथा नारदपञ्चरात्र में निरूपित ३२ अपराध तथा हरिवल्लभसुधोदयोक्त ६६ अपराधों का निरूपण करनेके पश्चात् श्रीमत्प्रभुचरणोक्त भक्तिमार्गीय ३२ अपराधों पर विवेचन किया है. ग्रन्थोपसंहारमें स्वसिद्धान्ताभिमत अपराधनिवृत्त्युपायका निरूपण किया गया है. वर्तमान सन्दर्भमें श्रीमत्प्रभुचरणोक्त ''**सेवायां लोकानुकूल्यम्**[९], **स्वमार्गीय–सेव्यभगवद्रूपे भेदबुद्धिः**[१५], **अनधिकारिणि मार्गरहस्यप्रकाशः**[२३], **सेवाभिमानः**[३०]'' आदि अपराध विशेषरूपसे चिन्तनकी अपेक्षा रखते है.

३. उत्सवप्रतान

इस ग्रन्थका सर्वप्रथम प्रकाशन वि.सं.२००५में श्रीबालकृष्णशुद्धाद्वैतमहासभा, सुरत द्वारा प्रकाशित 'उत्सवनिर्णयग्रन्थसमुच्चय' पुस्तकमें हिन्दी भाषानुवादके साथ हुवा था. इसके पुनः प्रकाशनमें पाठभेदोंका निर्धारण [१]मांडवी ग्रन्थागार तथा [२]भुवनेश्वरी पीठ–गोंडल से प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकोंकी सहायतासे किया गया है. हिन्दी भाषानुवाद श्रीजगन्नाथ शास्त्रीने किया है जिसे यहां यथावत् प्रकाशित किया गया है.

इस ग्रन्थमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने वर्षभरमें आते शास्त्रीय तथा भक्तिमार्गीय उत्सवोंके समयका निर्णय दिया है.

ग्रन्थका अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि साम्प्रदायिक टिप्पणी–पञ्चाङ्ग तैयार करनेवाले लोग आज जिन ज्योतिष सिद्धान्तोंको आधार बनाकर पञ्चाङ्ग तैयार कर रहे हैं वे सिद्धान्त सम्प्रदायमें सर्वांशमें मान्य नहीं हैं.

अन्तमें, ग्रन्थाध्यापन प्रवचन लेखन सम्पादन आदि कार्योंमें अतीव व्यस्त होते हुवे भी समादरणीय गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ–पार्ला)ने इस ग्रन्थकी मुद्रणार्थ तैयार की गयी प्रतिका अवलोकन कर आवश्यक उपयोगी निर्देश दिये यह सर्वथा अविस्मरणीय है. ग्रन्थकी मुद्रणव्यवस्थाका भार श्रीप्रवीणभाई तथा श्रीपीयूषभाई (राजकोट)ने उठा लिया और सौ.ख्यातिने ग्रन्थका सचित्र आवरण तैयार कर दिया यह भी स्मरणीय है. सर्वान्तमें द्रव्यशुद्धिदीपिका और उत्सवप्रतान ग्रन्थोंके पूर्व प्रकाशकों तथा अनुवादकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुवे.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा

गोस्वामी शरद्

अनुक्रमणिका

द्रव्यशुद्धिदीपिका

१. स्नानाचमननिमित्तविचार:. १

२. वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शे बुद्धिपूर्वकस्पर्शे च स्नानादिविचार:. २

३. शीतोष्णोदकस्नानविचार:. ३

४. रात्रौ स्नानविचार:. ४

५. रात्रौ नद्यादिजले स्नानविचार:. ५

६. रात्रौ जन्ममृतिरज:सु कालविभागादिविचार:. ५

७. चतुर्थदिनादौ रजस्वलाशुद्धिविचार:. ६

८. उपरमोत्तरं पुनारजोदर्शनविचार:. ६

९. रजस्वलाया: अशुच्यन्तरस्पर्शे रजस्वलयो: परस्परस्पर्शे च विचार:. ८

१०. रजस्वलास्नानादिविचार:. ८

११. परम् एतद्व्यतिरिक्तस्नानादियोग्यनिमित्तविचार:. ११

१२. स्पर्शे दोषाभावविचार:. १४

१३. भगवत्सेवायां दैवपित्र्यकर्मसु स्नानादिना शुद्धस्य के वा अशुचित्वहेतव: कथं च तत: शुद्धि: इति विचार्यते. १५

१४. वस्त्रादिविषये शुद्धिविचार:. २१

१५. पात्रादिशुद्धिविचार:. २७

१६. उच्छिष्टस्पृष्टपात्रशुद्धिविचार:. २९

१७. अमेध्यस्पृष्टशुद्धिविचार:. ३३

१८. शय्यादिशुद्धिविचार: ३६

१९. धान्यादिशुद्धि विचार:. ३७

२०. सिद्धान्नशुद्धिविचार:. ४०

२१. घृतपायसादीनां शुद्धिविचार:. ४२

२२. घृतपाचितादीनां भक्ष्याभक्ष्यविचार:. ४६

२३. उदकशुद्धिविचार:. ४८

२४. जलाशयशुद्धिविचार:. ४९

२५. भूशुद्धिविचार:. ५२

२६. गृहशुद्धिविचार:. ५४

२७. रथ्यादिशुद्धिविचार:. ५६

२८. प्रकीर्णशुद्धिविचारः. ५७
२९. आत्मशुद्धिविचारः. ५९

भक्तिमार्गीयापराधनिरूपणविवृतिः

भगवदरुचिविषयो अर्थो अपराधः. ६५
पापापराधयोः परस्परं भेदः ६६
वराहपुराणोक्ताः द्वात्रिंशदपराधाः ६६
नारदपञ्चरात्रोक्ताः द्वात्रिंशदपराधाः ८१
अपराधनिवृत्युपायः ८३
हरिवल्लभसुधोदयस्थाः षट्षष्टि अपराधाः ८३
श्रीमत्प्रभुचरणोक्ताः भक्तिमार्गीया द्वात्रिंशद् अपराधाः ८६
सर्वथा शरणगमनमेव मुख्योपायः ९२

उत्सवप्रतानः

श्रीजन्माष्टमीनिर्णयः ९५

भाद्रपदोत्सवः

भाद्रपदशुक्लाष्टम्यां श्रीमत्स्वामिन्युत्सवः ११६
परिवर्त्तनोत्सवः ११७
भाद्रपदशुक्लद्वादश्यां वामनोत्सवः ११७

आश्विनोत्सवाः

नवरात्रारम्भः १२१
विजयोत्सवः १२१
रासोत्सवः १२८

कार्तिकोत्सवाः

धनत्रयोदशीकर्तव्यम् १२८
नरकचतुर्दशीकर्तव्यम् १२८
अमावास्याकर्तव्यनिर्णयः १३०
श्राद्धदीपदानादौ प्रमाणम् १३१
द्यूते प्रमाणम् १३२
प्रतिपत्कर्तव्यनिर्णयः १३२
बलिपूजाविधिः १३४
रज्ज्वाकर्षणम् १३५

दिनद्वयमधिकृत्य कृत्यम् १३५
गोक्रीडनम् १३७
त्रियामिकसार्धत्रियामिकशास्त्रम् १३९
तिथिकृत्यसंग्रहः १३९
सिद्धान्ते श्राद्धदीपदानादौ क्रमव्यवस्था १४१
सार्धत्रियाम–पूर्वविद्धा–परविद्धासमन्वयः १४३
पूर्वाह्णापराह्णाभ्यां दिनत्रयकृत्यकालव्यवस्था १४४
त्रियामत्वशास्त्रस्य रहस्यार्थः १४७
बलिपूजायां चन्द्रदर्शनदोषः १४८
अन्नकूटे चन्द्रदर्शनदोषो नास्ति १४९
कार्तिकशुद्धद्वितीया भ्रातृद्वितीया १५१
कार्तिकशुक्लाष्टमी गोपाष्टमी १५१
कार्तिकशुक्लैकादशी प्रबोधोत्सवः १५१
एकादशीवेधाः १५६
एकादशीनामभेदाः १५८
मतान्तराणि १६२
पारणाविचार: १६४
मार्गशीर्षमासोत्सवा:
प्रावरणोत्सवः १६५
श्रीमत्प्रभूणाम् उत्सव: १६५
माघोत्सवा: १६५
वसन्तोत्सव: १६६
फाल्गुनोत्सवा:
होलिकोत्सव: १६७
दोलोत्सव: १७०
शिवरात्रिव्रतं वैष्णवानां कर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं वा? १७१
चैत्रमासोत्सवाः
श्रीमद्विट्ठलनाथप्रभुचरणविरचित: श्रीरामनवमीनिर्णय: १७७
वैशाखमासोत्सवा
श्रीमदाचार्यचरणोत्सव: १८२
वैशाखशुक्लतृतीयायां चन्दनयात्रोत्सव: १८३

श्रीनृसिंहोत्सवः १८३
प्रदोषविचारः १८३
ज्येष्ठमासोत्सवाः
ज्येष्ठाभिषेकोत्सवः १८५
आषाढमासोत्सवाः
रथोत्सवः १८७
शयनोत्सवः १८७
श्रावणमासोत्सवाः
पवित्रारोपणोत्सवः १८७
रक्षाबन्धनोत्सवः १९२
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित द्रव्यशुद्धि ग्रन्थको व्रजभाषानुवाद १९५
ગોસ્વામી શ્રીપુરુષોત્તમચરણ વિરચિત દ્રવ્યશુદ્ધિનો ગુજરાતી ભાષાનુવાદ ૨૫૧
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित उत्सवप्रतान ग्रन्थका हिन्दीभाषानुवाद ३१७

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

गोस्वामीश्रीपुरुषोत्तमचरणविरचिता

।। द्रव्यशुद्धिदीपिका ।।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् हरिसेवोपकारिका।।
बाह्याऽथाऽभ्यन्तरी द्रव्य-शुद्धिरत्र विचार्यते।।१।।
निबन्धेषु विविच्योक्ताऽप्यधुना बुद्धिदोषतः।।
यतो न भासते सम्यक् तत एष समुद्यमः।।२।।

१. अथ स्नानाचमननिमित्तविचारः.

तत्र तावत् प्रायश्चित्तमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यः

''उदक्याशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्,
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत्''

(याज्ञ.स्मृ.प्रायश्चि.१।३०)

इति आह. तत्र विज्ञानेश्वरः उदक्या रजस्वला अशुचयः शव-चाण्डाल-पतित-सूतिका-शावाशौचिनः एतैः संस्पृष्टः स्नायात्. तैः पुनः उदक्याशुचि-संस्पृष्टादिभिः संस्पृष्टः उपस्पृशेद् आचामेत्. आचम्य च अब्लिङ्गानि **''आपोहिष्ठा''** इत्येवमादीनि त्रीणि मन्त्रवाक्यानि जपेत्. त्रिष्वपि बहुवचनस्य चारितार्थ्यात्. तथा गायत्रीं च मनसा सकृद् जपेत्. ननु उदक्यादिसंस्पृष्टः स्नायाद् इति एकवचननिर्दिष्टस्य कथं तैः इति बहुवचनेन परामर्शः? सत्यम्, एवं किन्तु अत्र उदक्यादिसंस्पृष्टव्यतिरिक्त-स्नानार्हमात्रस्पर्शेऽपि आचमनमात्रविधानार्थं तैः इति बहुवचनमिति अविरोधः इति व्याख्यातवान् तेन रजस्वला-शव-शावाशौचि-चाण्डाल-पतितसूतिकानां स्पर्शे सचैलं स्नानम्.

अपरार्के तु मनुवाक्ये

''दिवाकीर्तिम् उदक्यां च पतितं सूतिकां तथा,
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्टः स्नानेन शुद्ध्यति'' (मनु.स्मृ.५।८५)

इति शवस्पृशः स्पर्शेऽपि सचैलं स्नानम् उक्तम्. मर्यादासिन्धौ तु व्याख्यातम्. दिवाकीर्तिः अत्र चाण्डालः, अत्यन्ताशुचिसाहचर्यात्. पतितो महापातकी. सूतिका प्रसवे सति अप्राप्तशुद्धिकाला. स्पृष्टं स्पर्शः, तस्य स्पृष्टं तत्स्पृष्टं, तद् अस्य अस्ति इति तत्स्पृष्टी.

अत्र ‘तत्’पदेन दिवाकीर्तिप्रभृतयः पञ्चाऽपि परामृश्यन्ते इति. अपरार्केऽपि एवम्. तेन पञ्चस्पृशामपि स्पर्शे स्नानम्. यद्यपि अत्र स्नानमात्रम् उक्तं तथापि सचैलं स्नानं सर्वसम्मतम्.

‘‘श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृशं महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अभोऽवगाह्योत्तीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत्, घृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिराचामेत्’’ (च्यवन. ।)

इति च्यवनवचनात्. तेन रजस्वला–शव–चाण्डाल–पतित–सूतिका–तत्स्पर्शि–शावाशौचि–तत्स्पर्शिस्पर्शे सचैलं स्नानम्. तद्व्यतिरिक्तस्नानार्हस्पर्शे तु आचमनम् इति सिद्ध्यति. ते च स्नानार्हा विज्ञानेश्वरेण सङ्गृहीता अग्रे वाच्याः.

साम्प्रतं तु रजस्वलादिस्पर्शविषये अन्यो विशेषः उच्यते. मर्यादासिन्धौ पराशरः

‘‘उदक्यास्पर्शने स्नायाद् अंशुकेनाङ्गतोऽपि वा,
स्याच्चतसृष्वपि स्नानं तुल्याः सर्वा रजस्वलाः’’

उद्ध.१(वृ.परा.स्मृ.८।३१५)

इति तुल्या इति स्पर्शदोषजनने सर्वास्तुल्या इति अर्थः. तथा

‘‘वस्त्रसंस्पर्शने तस्य सचैलाङ्गावगाहनम्,
अङ्गस्पर्शनवत् तस्य वदन्ति द्विजसत्तमाः’’ (वृ.परा.स्मृ.८।३१३)

इति च.

२. अथ वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शे बुद्धिपूर्वकस्पर्शे च स्नानादिविचारः.

पृथ्वीचन्द्रोदये तु

‘‘वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शे साक्षात्स्पर्शोऽभिधीयते,
साक्षात्स्पर्शे तु यत्प्रोक्तं तद्वस्त्राद्यन्तरेऽपि च’’

इति प्रचेतोवचनमपि उक्तम्. पराशरवाक्ये तु

‘‘स्नानं स्पृष्टेन येन स्यात् काष्ठाद्यैर्यदि तं स्पृशेत्,
नावारोहणवत् स्पर्शं तत्रोपस्पर्शनात् शुचिः’’ (वृ.परा.स्मृ.८।३११)

इति उक्तम्. तेन इदं सिध्यति. मनूक्तानां दिवाकीर्त्यादीनां पञ्चानां वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शे स्नानम्. शावाशौचिनां तु तत्र अनुक्तत्वात् तदशुचित्वस्य प्रत्यहं क्षीयमाणत्वाच्च काष्ठादिना बुद्धिपूर्वकं तत्स्पर्शेऽपि न स्नानं किन्तु आचमनादेव शुद्धिः

इति. एवं च पूर्वोक्तयाज्ञवल्क्यवाक्यमपि सङ्गतं भवति इति. चेतनव्यवधानस्पर्शे तु विशेषः संवर्तेन उक्तः

''तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद् यस्तु स्नानं तस्य विधीयते,

ऊर्ध्वम् आचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा''[उद्ध.२](संव.स्मृ. १८४)

इति. तेन उदक्यादिस्पर्शे द्वयोः स्नानं, तृतीयस्य आचमनम्. एवं द्रव्येष्वपि तत्स्पृष्टस्पृष्टयोः द्वयोः क्षालनं तृतीयस्य प्रोक्षणम् इति सिध्यति. 'तथा' इति अतिदेशस्य आचमनोत्तरम् उक्तत्वेन प्रोक्षणस्य तत्समानदेशिकतया द्वयोत्तरमेव तत्र प्राप्तेः. इदं च अबुद्धिपूर्वकस्पर्शे द्रष्टव्यम्. गौतमेन

''पतितचाण्डालोदक्याशवस्पृष्टि–तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने

सचैलम् उदकोपस्पर्शनात् शुद्ध्येत्'' [उद्ध.३](गौत्त.स्मृ.१४)

इत्यादिना तृतीयस्य स्नानस्य उक्तत्वात्. तथा

''उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं चाऽपि मानवः,

हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याऽऽचम्य शुद्ध्यति''(देव.स्मृ.१।९)

इति मर्यादासिन्धौ देवलवाक्याच्च त्रयाणां स्नानस्य चतुर्थे आचमनस्य च बुद्धिपूर्वकस्पर्शविषयत्वेन सर्वेषु निबन्धेषु अङ्गीकारात्. तेन बुद्धिपूर्वकस्पर्शे त्रयाणां स्नानं चतुर्थस्य आचमनम्. यद्यपि अत्र प्रथमस्य अबुद्धिपूर्वे द्वितीयादीनां तत्पूर्वे, प्रथमस्य बुद्धिपूर्वे द्वितीयादीनां बुद्धिपूर्वे स्पर्शे विशेषः कुत्राऽपि न उक्तः तथाऽपि बुद्धेरेव दोषप्रयोजकत्वकल्पनात् तादृशस्थले आतृतीयस्नानम् इति प्रतिभाति. अयमेव न्यायो द्रव्येष्वपि. चतुर्थानन्तरम् अशुद्ध्यनुवृत्त्यभावाद् इति. इतः स्वल्पो वाचनिकस्तु द्रव्यशुद्धिप्रकारो अमेध्यादिस्पृष्टपात्रविचारे वक्ष्यते. स्पर्शानन्तरं स्नाने तु मर्यादासिन्धौ विशेष उक्तः.

३. अथ शीतोष्णोदकस्नानविचारः.

अस्पृश्यस्पर्शनादौ स्नानं तीर्थादिषु शीतोदकेन कार्यम्. **''अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायाद् उष्णवारिणा''** (वृ.मनुस्मृ.) इति वृद्धमनुवचनात्. तीर्थाभावे तु उष्णोदकेनाऽपि कार्यम्.

''नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम्,

तीर्थाभावे तु कर्तव्यम् उष्णोदक–परोदकैः'' (शंखस्मृ.८।१)

इति शङ्खवचनात्. अत्र ''निमित्तानन्तरं नैमित्तिकं कार्यम्'' इति न्यायात् निश्यस्पृश्यस्पर्शे निश्येव स्नायात्.

४. अथ रात्रौ स्नानविचार:.

तथा आह यम:

''चण्डालै: श्वपचै: स्पृष्टे निशि स्नानं विधीयते,

न वसेच् चेद् अयं रात्रौ निशि स्नानेन शुद्ध्यति,

अथ तत्र वसेद् रात्रिम् अज्ञानाद् अविचक्षण:,

तदा तस्य तु तत्पापं शतधा परिवर्तते'' उद्ध.४ (लघुयम.स्मृ.६४,६५)

इति. अत्र 'चण्डाला'दिपदं रजस्वलादीनामपि उपलक्षणम्. अत्र विशेषम् आह पराशर:

''अस्तङ्गते यदा सूर्ये चण्डालं पतितं स्त्रियं,

सूतिकां स्पृशतश्चैव कथं शुद्धिर्विधीयते,

जातवेद: सुवर्णं च सोममार्गं तथैव च,

ब्राह्मणानुमतेनैव स्नात्वा दृष्ट्वा च शुद्ध्यति'', उद्ध.५ (परा.स्मृ.७।११,१२)

आचान्तमनुगर्ते वा निशि स्नानं न विद्यते,

स्नानमाचमनं प्रोक्तं दिवोद्धृतजलेन तु''

इति. सोममार्गम्=आकाशं दृष्ट्वा इति अन्वय:. अनुगर्ते जलाशये. रात्रौ जलाशये स्नानम् आचमनं च नास्ति किन्तु दिवोद्धृतजलेन रात्रौ स्नानमाचमनं च कार्यम् इति अर्थ:. अन्योऽपि विशेषो देवलेन उक्त:

''दिवोद्धृतैर्जलै: स्नानं निशि कुर्याद् निमित्तत:,

प्रक्षिप्य च सुवर्णं तु सन्निधाप्य च पावकम्'' (देव.स्मृ.५)

इति. एतदपि उद्धृतोदकस्नानं शवस्पृष्टव्यतिरिक्तविषयम्. तथा आह वृद्धशातातप:

''अनस्तमित आदित्ये सङ्गृहीतं तु यज्जलम्,

तेन सर्वात्मना शुद्धि: शवस्पृष्टं तु वर्जयेत्''

इति. रात्रौ शव-तत्स्पृष्टयो: स्पर्शे मज्जनेनैव शुद्धि:. इतरास्पृश्यस्पर्शेतु उद्धृतोदकस्नानेन इति अर्थ:. उद्धृतजलाभावे तु मरीचि: आह

''दिवाहृतं तु यत् तोयं गृहे यदि न विद्यते,

प्रज्वाल्याग्निं तत: स्नायाद् नदीपुष्करिणीषु च'' (मारी.स्मृ.)

इति. अग्न्यभावे विशेषम् आह अत्रि:

''रात्रौ स्नानं यदि भवेत् पश्यन् अग्निं समाचरेत्,

स्वर्णांगुलिकरो विप्रो वह्निना वा विनाचरेत्'' (अत्रिस्मृ.) इति.

५. अथ रात्रौ नद्यादिजले स्नानविचार:.

रात्रौ नद्यादिस्नाने प्रकारविशेषम् आह कात्यायन:

‘‘न विशेद् वारि न स्नानं न रात्रौ जलम् उद्धरेत्,
अन्यत्र धाम्न इत्येव तत्रस्थे स्नानमिष्यते’’ (कात्या.)

इति. अन्यत्र इति अस्य पूर्वेण सम्बन्ध:. धाम्न इति.

‘‘धाम्नो–धाम्नो राजन्नितो वरुण नो मुञ्च,
यदापो अघ्न्या(अघ्रिया) इति वरुणेति,
शपामहे (या) ततो वरुण मुञ्च’’

इति तैत्तिरीयशाखाद्युक्तं मन्त्रं पठित्वा स्थानस्थितएव जले स्नायाद् इति अर्थ:. जलस्य रात्रौ उद्धरणे तु बौधायन:

‘‘अस्तमित आदित्य उदकं गृह्णीयान्न गृह्णीयाद् इति मीमांस्यते, न गृह्णीयाद् इति एक आहुः ब्रह्मवादिनो गृह्णीयाद् इति अपरे यावदुदकं गृह्णीयात् तावत् प्राणानायच्छेद् अग्निर्ह वा उदकं गृह्णाति इति’’. (बौधा.)

इदं (इदं सर्वं) मर्यादासिन्धुस्थं प्रमेयम् उक्तम्. तेन अस्पृश्यस्पर्शे दिवा जाते दिवैव तीर्थादौ शीताम्भोवगाहनम्. तीर्थाद्यभावे तु उष्णोदकेन परोदकेन वा स्नानम्. निशि जातेतु तीर्थे गत्वा अग्निं प्रज्वाल्य ‘‘धाम्न...’’ इत्यादिमन्त्रं पठित्वा ततो अवगाहनम्. तदभावे दिवोद्धृतेन उष्णोदकेन परोदकेन वा तत्रापि अग्निं पश्यता सुवर्णं प्रक्षिप्य स्नानं कार्यम्. अग्न्यभावे सुवर्णांगुलिकरेण, तदभावे तु रात्रावपि उद्धृत्य यथालाभं पूर्वोक्तप्रकारं कृत्वा स्नायात् तत: प्राणान् आयच्छेत्. सर्वाभावे तु हरिं स्मृत्वा यथाकथंचिदपि स्नायात्. नतु रात्रौ तथैव तिष्ठेद् इति. शव–तत्स्पृष्टस्पर्शने तु मज्जनेनैव शुद्धि:. अत्रापि मज्जनार्हजलाभावे हरिस्मरणपूर्वकं स्नानम् इति प्रतिभाति, तथैव स्थितेः अनुचितत्वाद् इति. सूर्योदयोत्तरं पुन: स्नायाद् इति च.

६. अथ रात्रौ जन्ममृतिरज:सु कालविभागादिविचार:.

मिताक्षरायां कश्यप:

‘‘उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रज:,
जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी,
अर्धरात्रावधि: काल: सूतकादौ विधीयते,
रात्रिं कुर्यात् त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्वएव तु,

उत्तरोंऽशः प्रभातेन युज्यते मृतसूतके,
रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके,
पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन् नाभ्युदितो रविः''

(दाल्भ्यस्मृ.१४५,१४७,१४४)

इति. अत्र आचारतो व्यवस्था इति उक्तम्. अत्र यस्य इति अनेन वारो ग्राह्यो न तिथिः इति बोध्यम्. नोचेद् उदित इत्यादिकथनवैय्यर्थ्यापत्तेः. तेन म्लेच्छवद् रात्रिम् आरभ्य गणना वारिता. शुद्धिमयूखे तु तत्रापि त्रिभागपक्षमेव आद्रियन्ते शिष्टा इति एतावद् अधिकम् उक्तम्.

७. अथ चतुर्थदिनादौ रजस्वलाशुद्धिविचारः.

रजस्वलाविषये तु मिताक्षरायां स्मृत्यन्तरे

''शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला,
दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति'' (शंख.स्मृ.१६।१७)

इति. पञ्चमेऽहनीति रजोनिवृत्त्युपलक्षणम्. **''रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला''** (मनु.स्मृ.५।६६) इति मनुवाक्यात् साध्वीति दैवपित्र्यकर्मार्हा इति व्याख्यानात्. तेन अनुपरतेऽपि रजसि चतुर्थे अह्नि स्नानेन स्पर्शादिषु शुद्ध्यति. दैवपित्र्यकर्मविषये तु चतुर्थे अह्नि स्नातापि रजोरहितैव योज्या इति अर्थः इति उक्तम्. इदमेव च युक्तम्. **''चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी''** (मिता.३।२०) इति तत्रैव वृद्धमनुना सर्वव्यवहारेषु शुद्धेः उक्तत्वात् परम्परितेषु दैवादिकार्येषु अदोषात्. तेन अन्नसंज्ञारहित-शाकपिष्टादिस्पर्शेऽपि अदोषः, साक्षात्पाकादिक्रियायां तु दोष इति सिद्ध्यति. एवं सति शुद्ध्युत्तरं रजो अनुपरमे पाकाद्युपकरणसम्पादनदशायां यदा परिहितवसने रजःसंसर्गो दृश्येत तदा अङ्गादि संशोध्य वस्त्रान्तरं परिधाय तत्करणे दोषो न भवति इति सिद्ध्यति.

८. अथ उपरमोत्तरं पुनारजोदर्शनविचारः.

तत्र आह अत्रिः

''रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला,
अष्टादशदिनाद् अर्वाग् अशुचित्वं न विद्यते,
एकोनविंशतेरर्वाग् एकाहः स्यात् ततो द्व्यहम्,
विंशप्रभृत्युत्तरेषु त्रिरात्रम् अशुचिर् भवेत्'' (मिता.३।२०)

इति. अर्थस्तु, रजोदर्शनम् आरभ्य पुनः सप्तदशदिनाभ्यन्तरे रजोदर्शने अशुचित्वं नास्ति. अष्टादशेतु एकाहाद्, ऊनविंशे द्व्यहाद्, विंशतिप्रभृतिषु त्र्यहात् शुद्धिः इति. यत्तु ''**चतुर्दशदिनाद् अर्वाग् अशुचित्वं न विद्यते**'' इति स्मृत्यन्तरं तत्र तु स्नानप्रभृतित्वम् अभिप्रेतम् इति अविरोधः. अयं च अशुचित्वप्रतिषेधो यस्या विंशतिदिनोत्तरमेव प्रायशो रजोदर्शनं तद्विषयः. यस्याः पुनः प्रागेव अष्टादशदिनाद् प्राचुर्येण तद्दर्शनं तस्यास्तु प्रागपि अष्टादश(शे)भ्यः त्रिरात्रम् इति विज्ञानेश्वरः. एवं च यदि प्रथमदिनएव रजो यस्या दृष्टं न द्वितीयादिषु तदापि उक्तकश्यपवाक्ये दर्शनस्यैव निमित्तत्वेन उक्तत्वात्. वसिष्ठेन च रजस्वला त्रिरात्रम् अशुचिः भवति इति उक्त्वा अनञ्जनादिविधानकथनात् चतुर्थे अह्न्येव शुद्धिः न तु प्राग् इत्यपि बोध्यम्. अज्ञाते तु रजसि निर्णयसिन्धौ पराशरमाधवीये प्रजापतिः

''**अविज्ञाते मले सा तु मलवद् वसना यदि,**
कृतं गृहेषु दुष्टं स्यात् शुद्धिस्तस्याः त्रिरात्रतः'' (प्रजा.स्मृ.)

इति उक्तवान्. तेन एतन्मते मलसत्तैव अशुचित्वापादिका. कर्मतत्त्व–प्रकाशिकाख्ये कृष्णभट्टीये धर्मप्रवृतौ च ''ज्ञानाद् अशुचिरिष्यते'' इति चतुर्थपादः पठितः. तथा यमोऽपि

''**व्यसनात् कार्यकरणात् निद्राविस्मरणाद् अपि,**
रजःस्रावम् अविज्ञाता सा शुचिः सर्वकर्मसु,
ज्ञानाद् ऊर्ध्वं यदि स्पृष्टा शोधयेत् कर्मसाधनम्,
मृण्मयानि परित्यज्य स्नेहानपि विलापयेत्,
तक्षणं दारुश्रृङ्गास्थ्नां कांस्यं वा भस्मभिः शतैः,
गृहं विलेपयेत् मृद्भिः गोमयेन च वारिणा,
धान्यानां चैव सर्वेषां प्रोक्षणात् शुद्धिरिष्यते,
ज्ञाताज्ञातेषु दोषेषु अनुक्तेष्वशुभेषु च,
पुण्याहवाचनं कुर्याद् विप्राणाम् अनुशासनाद्'' (यम.स्मृ.) इति.

तथा

''**असन्दिग्धे परिज्ञाते त्वार्तवे शुद्धिकारणम्,**
सन्दिग्धमात्रे स्नानं स्याद् इत्युवाच प्रजापतिः'' ( )

इति च उक्तम्. तेन एतन्मते ज्ञानमेव अशुचित्वापादकम्. स्मृत्यर्थसारे तु अज्ञाते रजःस्रावे चतुर्षु दिनेषु ज्ञाते तु रजःस्रावादिकम् अशुचित्वम्. जननादौ तु ज्ञानादिकम् अशुचित्वम्. सर्वथा अज्ञातं चेत् शुचित्वमेव. एवं सर्वं पापनिमित्तं स्वसत्तादिपापापादकम् इति उक्तम्. स्वसत्तादीति स्वसत्ताम् आरभ्य. तथा च अयम् अर्थः. रजःप्रभृतीनां

स्वसत्ताम् आरभ्य पापजनकत्वात् तदारम्भकालम् अनुमाय तदारभ्य स्पर्शदोषो अनुसन्धेयः. आरम्भकालानुमानाशक्तौ तु शुचित्वमेव इति. अत्र यद्यपि पूर्वावधिकाल-सन्देहे पञ्चमदिवसादौ तज्ज्ञाने च निर्णयो न उक्तः तथापि ''**सन्दिग्धमात्रे स्नानं स्यात्**'' इति वाक्यात् सन्दिग्धया स्नातव्यम्. तद्वस्त्रादीनां साक्षात्स्पृष्टानां क्षालनं गोमूत्र-स्वर्णजलादिभिः ''**अपवित्रः पवित्रो वा**'' इत्यादि मन्त्रपूर्वकम् अन्येषाम् अभ्युक्षणं कार्यम्. यत्र च बहुस्त्रीके गृहे दुष्टवस्त्रादिना मलमात्रज्ञानं न मलिनायाः तदापि दिनगणनादिभिः या मालिन्ये सन्दिग्धा तया तथा कार्यम्. तत्रापि सन्देहे तु सर्वाभिः पुण्याहवाचनं तादृशस्थले सर्वत्र ज्ञाताज्ञातेष्विति पूर्वोक्तवाक्यात् हरिस्मरणादिपूर्वकं प्रोक्षणादिकं च सर्वत्र. तदतिरेकेण अन्यस्य शोधकतमस्य अभावात्. सन्धितपर्पटयोस्तु त्यागएव. ''**उदक्यास्पृष्टसन्धुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत्**'' (याज्ञ.स्मृ.१।१६८) इति याज्ञवल्क्यवाक्ये पक्वान्नत्यागकथनाद् एतयोश्च अन्नसंज्ञासत्त्वाद् इति तु मम प्रतिभाति.

९. अथ रजस्वलायाः अशुच्यन्तरस्पर्शे रजस्वलयोः परस्परस्पर्शे च विचारः.

तत्र अपरार्के बहूनि वचनानि सन्तीति तेषाम् अर्थएव उच्यते. उदक्या-सूतिकयोः शवचण्डालकर्मके स्पर्शे त्रिरात्रोपवासः. चण्डाल-श्वपचकर्तृकेऽपि तथा पञ्चगव्याशनं च अधिकं शातातपेन उक्तं, कश्यपेनतु शुद्ध्युत्तरं तथाकरणम् उक्तम्. तद्रात्र्यनन्तरं त्वजाघ्रातकरणमपि उक्तम्. बृहस्पतिना तु पतित-श्वपाककर्तृके स्पर्शे प्रथमदिने जाते त्र्यहः, द्वितीये द्व्यहः, तृतीये एकाहः, अग्रे नक्तं कार्यं परन्तु शुद्ध्यनन्तरम् इति उक्तम्. अत्र अशक्तौ वृद्धशातातपेन तदारभ्य स्नानावध्युपवासः स्नानोत्तरं तु कालेन शुद्धिः इति उक्तम्. अत्रापि अशक्तौ तु पराशरेण अहोरात्रोपवासः, पञ्चगव्याशनं, ततः शक्त्या स्वर्णदानं, ब्राह्मणभोजनं च उक्तम्.

रजस्वलयोः परस्परस्पर्शे तु सगोत्रयोः स्नानमात्रम्. असगोत्रयोरपि सवर्णयोः स्पर्शे एकरात्रम् उपवासः. क्षत्रिया स्पर्शे ब्राह्मण्याः त्रिरात्रम्. वैश्या स्पर्शे पञ्चरात्रम्. शूद्रा स्पर्शे षड्रात्रम् इति वृद्धवसिष्ठेन उक्तम्. रजस्वला चेद् मूत्राद्युत्सृजन्ती स्पृशेत् तदा उत्सृजन्ती अहोरात्रम् उपवसेत्. भुञ्जानां चेत् तदा भुञ्जाना त्रिरात्रं जलं पिबेत्. रजस्वलां चेत् श्व-जम्बुक-खरप्रभृतयः स्पृशेयुः सा वा तान् स्पृशेत् तदा स्नात्वा सज्योतिः उपवसेत् पञ्चगव्यं च अश्नीयाद् इत्यादिकं तत्र बहु उक्तम्.

१०. अथ रजस्वलास्नानादिविचारः.

रजस्वलायाः स्नानदिवसे तैलादिमलिनं वसनादिकं च यथावत् शोधनीयम्. तद्

आह कृष्णभट्टीये पराशरः

''रजस्वला त्रिरात्रान्ते मलं प्रक्षाल्य सङ्गवे,
दन्तानां धावनं कृत्वा मृत्तिकाषष्टिभिः पृथक्,
शौचं कृत्वा ततो देहं क्षाल्य गोमयवारिणा,
स्नायात् सचैलं नाऽगारे तडागादिजलाश्रये''(परा.स्मृ.) इति.

अत्र मलप्रक्षालनस्य गोमयेन स्नेहमालिन्यक्षालनस्य च उक्त्या तल्लाभः.

अत्रिरपि

''रजस्वला चतुर्थेऽह्नि मृत्तिकाषष्टिभिः पृथक्,
शौचं कृत्वा यथान्यायं दन्तानां धावनं तथा,
कृत्वा तु सङ्गवे तीरे सचैलं स्नानमाचरेत्,
भस्मगोमयमृद्भिश्च सर्वैरन्यतमेन वा,
स्नात्वांशुकं परिच्छाद्य गन्धपुष्पैरलंकृता,
आचम्य पुष्पैरादित्यम् अर्चयित्वा यथोचितम्,
ऐन्द्रं वरं प्रभो मह्यम् इदानीं दातुमर्हसि,
इत्युक्त्वाथैन्द्रभावेन प्रार्थयेत्तु स्वकं पतिम्,
ऋतुस्नाता तु या नारी यं स्नेहाद् नरमीक्षते,
तादृशं जनयेत् पुत्रं पतिमेव निरीक्षयेत्'' (अत्रिस्मृ.) इति.

स्मृत्यर्थसारेतु एवं सङ्गवे स्नानमात्रम् उक्तं गृहे वा तडागादौ वा इति तु न विचारितम्. षष्टिमृत्तिकादिभिः शौचं ब्राह्मण्याः, क्षत्रादिस्त्रीणां पादपादन्यूनमृत्तिकादिभिः, विधवाया द्विगुणाभिः शौचम् इति उक्तम्. अन्येषु तु प्राचीनार्वाचीननिबन्धेषु चतुर्थे अह्नि स्नानमात्रं वदन्ति नतु तत्प्रकारं कालं वा देशं वा. शिष्टाचारस्तु सूर्योदयोत्तरं चतुर्थे अह्नि पूर्वोक्तप्रकारेण गृहेऽपि दृश्यते. व्यासस्मृतौ द्वितीयाध्याये

''स्नायात् सा तु त्रिरात्रान्ते सचैला उदिते रवौ,
विलोक्य भर्तृवदनं शुद्धा भवति धर्मतः'' (व्यासस्मृ.२।४०)

इति वाक्यात्. तेन स्मृत्याचाराभ्याम् एषा देशकालव्यवस्था उचितैव, तडागादीनाम् असार्वत्रिकत्वादपि. वस्तुतस्तु देशकालकथनम् असहायविषयम्. न हि एकाकिन्या गृहे अतिशुद्धतया स्नातुं शक्यते न वा दुष्टे अस्मिन् कलौ सलज्जया तरुण्या बहिः तथा कर्तुं शक्यते इति. एवं गृहे स्नाने रजस्वलास्पृष्टार्द्रभूमिर्गृहं च यथावच्छोध्यमेव. **''व्यसनात् कार्यकरणात्''** इति पूर्वोक्तयमवाक्येषु ज्ञानोत्तरं कर्मसाधनशोधनस्य गृहविलेपनस्य च उक्तत्वाद् इति. तत्स्पृष्टं जलं च त्याज्यमेव.

''अक्षुब्धानामपां नास्ति प्रसृतानां च दूषणम्,

स्तोकानामुद्धतानां च कल्मषैर्दूषणं भवेत्'' [उद्ध.६](देव.स्मृ.१।९।४)

इति मर्यादासिन्धौ देवलवाक्यात्. किं बहुना

''अत्राक्षुब्धतडागादि–नदीवाप्यः सरांसि च,

कश्मलाऽशुचिसंस्पर्शे तीर्थतः परिवर्जयेत्'' [उद्ध.७](देव.स्मृ.१।९।५)

इति अमेध्ययुक्तदेशस्थानां त्यागस्य तेनैव उक्तत्वाच्च चण्डालाद्यशुचिस्पर्श इति पाठान्तरस्य उक्तत्वाच्च कैमुतिकादेव उद्धृतजलत्यागप्राप्तेः इति. तेन रजस्वला–स्पृष्टार्द्रभूसंस्काराभावः तत्स्पृष्टजलत्यागाभावश्च अनाचारएव गुर्जराणाम्. तथा तृतीय–दिवसे मलापकर्षस्नानं सारस्वतद्विजक्षत्रियादिस्त्रीणां यो मध्यदेशे सोऽपि अनाचारएव. एवं रजस्वलावदेव शवस्पृग्भिश्च शिरोवस्त्रप्रभृति शोध्यमेव. यद्यपि मृत्तिकासङ्ख्या न तत्र शास्त्रोक्ता तथापि स्मृत्यन्तरे सकृद् मृत्तिकाभस्मस्नानस्य उक्तत्वात् तथाशिष्टाचाराच्च तदपि आवश्यकम्, बृहदाशौचत्वाच्च. अतः तत्स्पृष्टजलादिकं च त्याज्यमेव. रजस्वलादीनाम् आतुरत्वे तु यमः पराशरश्च

''आतुरे स्नानम् उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः,

स्पृष्ट्वा–स्पृष्ट्वा तु तं स्नायात् ततः शुद्ध्येत् स आतुरः''

[उद्ध.८](परा.स्मृ.७।२०)

इति आहतुः. उशनाश्च

''ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता,

कथं तस्या भवेत् शौचं शुद्धिः स्यात् शौचकर्मणि,

चतुर्थेऽहनि सम्प्राप्ते स्पृशेद् अन्या तु तां स्त्रियम्,

सा सचैलाऽवगाह्यापः स्नात्वा–स्नात्वा पुनः स्पृशेत्,

दशद्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः–पुनः,

अन्त्ये च वाससां त्यागः ततः शुद्धा भवेत्तु सा,

दद्यात् शक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुद्ध्यति'' इति.

(याज्ञ.मिता.३।२०)

रजोदिवसेषु मध्ये ग्रहणापाते तु निर्णयसिन्धौ स्नानम् उक्तम्.

''न सूतकादिदोषोऽस्ति ग्रहे होमजपादिषु,

ग्रस्ते स्नायाद् उदक्यापि तीर्थाद् उद्धृत्य वारिणा'' (निर्ण.सि.   )

इति भार्गवार्चनदीपिकायां सूर्योदयनिबन्धवचनात्.

''स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला,

पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत्'' (परा.स्मृ.   )

इति पराशरवचनाच्च. त्रिदिनमध्यएव ग्रहणनिमित्तकं स्नानं कृत्वा अनञ्जनादिरूपं रजस्वलाव्रतं निर्वाहयेद् इति अर्थः. एवं ग्रहणनिमित्तके स्नाने प्राप्ते यदि चन्द्रादेः ग्रस्तस्य मुच्यमानदशायाम् उदयः तदा **''ग्रस्यमाने भवेत् स्नानम्''** इति उक्तस्य निमित्तस्य अभावेऽपि **''दृष्ट्वा स्नायाद्''** इति वाक्यान्तरोक्ताद् निमित्तात् स्नानम्. यदि च तावद् न अवकाशः तदा मुख्यस्य दानकालस्य सत्त्वाद् मार्जनपूर्वकं दानमेव कृत्वा मुक्तिस्नानं कार्यम् इति प्रतिभाति. बालादीनां रजस्वलादिस्पर्शे तु शुद्धिमयूखे हरिहरभाष्ये शातातपः

''शिशोरभ्युक्षणं कार्यं बालस्याचमनं स्मृतम्,
रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नातव्यं च कुमारकैः,
प्राक् चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः,
कुमारकः स विज्ञेयो यावन्मौंजीनिबन्धनम्'' (दाल्भ्यस्मृ.१२९)

इति. रजस्वलादिदृष्टान्ने तु शातातपः

''जीवाभिशस्तपतितैः सूतिकोदक्यनास्तिकैः,
दृष्टं वा स्याद् यदन्नं तु तस्य निष्कृतिरुच्यते,
अभ्युक्ष्य किञ्चिद् उद्धृत्य तद्भुञ्जीताविशङ्कितः,
भस्मना वापि संस्पृश्य संस्पृशेद् उल्मुकेन वा,
सुवर्णरजताभ्यां वा भोज्यं ध्रातमजेन वा'' (शाता.स्मृ.)

इति. एतेन जलादेः न अशुद्धिः इति प्रतिभाति. एवम् अत्यन्ताशुचिविषये विचारितम्.

११. अतः परम् एतद्व्यतिरिक्तस्नानादियोग्यनिमित्तविचारः.

तत्र पराशरः

''दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि,
चितिपूयश्मशानास्थ्नां स्पर्शने स्नानमाचरेत्'' उद्ध.९(परा.स्मृ.१२।१)

इति. अत्र मैथुनिनः स्नानं ऋतुकालविषयं कालविशेषविषयं च **''अनृतौ तु यदा गच्छेत् शौचं मूत्रपुरीषवत्''** (बृह.स्मृ.) इति बृहस्पतिवचनात्.

''अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम्,
कृत्वा सचैलं स्नात्वा तु वारुणीभिश्च मार्जयेत्''

(वृ.हारि.स्मृ.९।३१५)

इति मिताक्षरापरार्कयोः स्मृत्यन्तराच्च. मर्यादासिन्धौ तु सद्यो भुक्तान्नवमने स्नानाभावः.

''अशनन् भुक्त्वार्द्रपाणिर्वा वान्तो न स्नानमाचरेत्,

अन्यदा वमने स्नायात् तथा शोकाश्रुपातयोः'' (आप.)

इति आपस्तम्बवचनाद् इति उक्तम्. शोकाश्रुपातयोः इति शोके तत्कृते अश्रुपाते च इति अर्थः. तथा विरिक्तस्य दशकृत्वो विरेके स्नानम् इति गोविन्दराजः. हरीतक्यादिभक्षणेन व्याधिना वा अष्टसङ्ख्यात ऊर्ध्वं विरेके स्नानम् इति मेधातिथिः. **''मैथुने दुःस्वप्ने वमनविरेकयोः''** (विष्णु.स्मृ.)इति विष्णुवाक्याद् मिलितमेव एतन्निमित्तम् इति उदीच्या इति मतत्रयम् अधिकम् उक्तम्. पूयस्पर्शे स्नानम्. तदनधिकृताकारणस्पर्शे वेदितव्यम्. **''पूयं चाकारणादन्यः स्पृष्ट्वा स्नात्वैव शुद्ध्यति''** (लिङ्गपुरा. । ।) इति लिङ्गपुराणाद् इति च विशेष उक्तः. अस्थिस्पर्शे तु मनुना विशेषः उक्तः

''नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति,

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य चेत्'' (मनुस्मृ.५।८७)

इति. सस्नेहम् इति मांसमज्जादिसन्दिग्धम्. यत्तु ब्राह्मे

''मानुषास्थि तु संस्पृश्य स्निग्धं निःस्निग्धमेव वा,

स्नायाद् गां संस्पृशेत् सूर्यं पश्येद् विष्णुम् अनुस्मरेत्''(ब्रह्म.पुरा.)

इति निःस्निग्धस्पर्शेऽपि स्नानम् उक्तम् तत् कामतः स्पर्शविषयमिति अविरोधः. अन्यच्च यम आह

''अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते तथाभ्यस्तमिते रवौ,

दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते'' (यम.स्मृ.)

इति. अत्र अजीर्णापगमे स्नानं देवार्चादौ अधिकारित्वप्रतिपादनार्थम् इति मर्यादासिन्धौ. तथा सूर्योदयास्तमयव्यापिनी निद्रा अभ्युदिताभ्यस्तमितपदाभ्याम् उच्यते इति अपरार्के उक्तम्. कश्यपस्तु

''उदयास्तमययोः स्कन्दित्वाऽक्षिस्पन्दने कर्णाक्रोशने चित्यारोहणे पूयसंस्पर्शने च सचैलं स्नात्वा पुनर्मन इति जपेत्. महाव्याहृतिभिः सप्ताज्याहुतीर्जुहुयात्'' (कश्य.स्मृ.)

इति विशेषम् आह. स्मृत्यन्तरे

''चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालमेव च,

स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत्'' (बृह.परा.स्मृ.८।२७२),

''देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्,

स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः''.

मिताक्षरायां ब्रह्माण्डपुराणे

''शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान्,
विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्'' (ब्रह्मा.पुरा.   ).

अपरार्के तु 'बौद्धान्' इति पाठः. तथा तत्रैव स्मृत्यन्तरम्

''नग्नान् पाशुपतान् बौद्धान् कालान् कौलान् दिशश्चरान्,
एतान् दृष्ट्वा रविं पश्येत् स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत्''

मर्यादासिन्धौ हारीतः

''बौद्धान् पाशुपतान् जैनान् लोकायतिककापिलान्,
विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्,
कापालिकांस्तु संस्पृश्य प्राणायामोऽधिको मतः''(हारि.स्मृ.   )

इति आह हारीतः. अत्र पाशुपता वेदबाह्या विवक्षिता इति व्याख्यातम्. अपरार्के तु अङ्गिरसा श्वपाकच्छायाधिरोहणे स्नानं घृतप्राशनं च उक्तम्. अन्येऽपि बहवः तत्र उक्ता

''प्रत्यहं नित्यकर्माकर्ता पक्षानन्तरम् अस्पृश्यतां याति. ज्ञातिबाह्यकृतश्च पुल्कस-म्लेच्छ-भिल्ल-पारसीकादयः साविका नारी श्वपाल उन्मत्तः शूद्रोच्छिष्टं उच्छिष्टः शूद्रः श्वविड्वराहोष्ट्र-खर-वृक-गोमायुवानर-काक-कुक्कुट-गृध्रोलूकाः, [पा.भे.१]**भासावायस-वानर-मार्जार-खरोष्ट्र-श्वविड्-वराहाणाममेध्यम्''**(आङ्गि.स्मृ.   ).

सदाचारचन्द्रोदये तु मयूरामेध्यमपि उक्तम्.

''चिताप्रदेशोद्भववृक्षः, नीली-नीलीविकाराः, चण्डाल-पतितच्छाया, शिवनिर्माल्यं, भक्षवर्जं पञ्चनखः, शवः, परकीयवसाविष्ठार्तवमूत्र-रेतो-मज्जाशोणितानि''

इति. एतेषां स्पर्शे सचैलं स्नानम्. एवं च अत्र निषिद्धेतर-पक्षिपक्षाणाम् अनुक्त्वा तेषां वायूड्डायितानां स्पर्शे न कश्चिद् दोषः इति प्रतिभाति. अत्र च येषां स्नानम् उक्तं तेषाम् अस्नातानां स्पर्शे तु स्प्रष्टुः आचमनमात्रम्.

अथ अत्र विशेषो मर्यादासिन्धौ. तत्र शातातपः

''रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजालोपजीविनौ,
चैलनिर्णेजकश्चैव नटः शैलूषकस्तथा,
मुखे भगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा,
चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यकुक्कुटसूकरौ,
एभिर्यदङ्गं स्पृष्टं स्यात् शिरोवर्जं द्विजातिषु,

तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात्''(शता.स्मृ.   ).

अत्र रजको वस्त्ररञ्जनकर्ता. शैलूषो नाटकाद्यभिनेता. मुखे भगो मुखयोनिः इति ख्यातः. शिरोवर्जम् इति अत्र शिरःपदम् ऊर्ध्वांगोपलक्षकम् इति केचित्. आपस्तम्बस्तु एतान् प्रक्रम्य विशेषम् आह ''**एतैः स्पृष्टस्तु उच्छिष्ट एकरात्रं पयः पिबेत्**''(आप.स्मृ.   ). ''**एतैरुच्छिष्टैस्त्रिरात्रं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति**''(   ) इति.

बृहत्पराशरः

''**म्लेच्छालूनासनस्पर्शे क्षेत्रे वा यदि वा गृहे,**

उपस्पृशन् शिरः प्रोक्ष्य संशुद्धो जायते नरः''[उद्ध.१०](वृ.परा.स्मृ.८।३१२)

शङ्खः.

''**उच्छिष्टं मानवं स्पृष्ट्वा भोज्यं वापि तथाविधम्,**

तथैव हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति''   (शङ्खस्मृ.   ).

तथाविधम् इति उच्छिष्टम्. **तथैव** इति आचमनविधिना. तथा

''**यदम्भः शौचनिर्मुक्तं क्षितिं प्राप्य विनश्यति,**

प्रक्षाल्याशुचिलिप्तं च तत्स्पृष्ट्वाऽऽचम्य शुद्ध्यति''

इति. शौचजलासिक्तक्षितिमशुचिलिप्तं च स्पृष्ट्वा प्रक्षालनाद् आचमनाच्च शुद्ध्यति इति अर्थः. यमः

''**सकर्दमं तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसङ्करम्,**

जङ्घानां मृत्तिकास्तिस्रः पद्भ्यां च द्विगुणाः स्मृताः''(यमस्मृ.   )

इति. ग्रामसङ्करो ग्रामावकरः. अन्यान्यपि निमित्तानि स्मृत्यन्तराद् अवगन्तव्यानि. यथा

''**स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे,**

आचान्तः पुनराचामेद् वस्त्रं विपरिधाय च''   (परा.स्मृ.१२।१७)

इत्यादि.

''**कृतेष्वाचमनं कार्यं पितृकार्येषु सर्वदा,**

अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधने क्षुते,

मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासे ष्ठीवनेऽनृते''

इत्यादि च कृष्णभट्टीये.

१२. अथ स्पर्शे दोषाभावविचारः.

मर्यादासिन्धौ बृहस्पतिः

''तीर्थे विवाहे यात्रायां सङ्ग्रामे देशविप्लवे,
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति,
आपद्यपि हि कष्टायां रुग्भये पीडने तथा,
मातापित्रोर्गुरोश्चैव निदेशे वर्तनात् तथा'' (बृह.स्मृ.)

इति. **निदेशे** आज्ञायाम्. तथा च गुर्वाद्याज्ञयापि तदभावः इति अर्थः. शातातपः

''गोकुले कन्दुशालायां तैलयन्त्रेक्षुयन्त्रयोः,
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीषु राजकुलेषु च'' (शाता.स्मृ.)

इति. अत्रिस्मृतौ तु **''स्त्रीणां च व्याधितस्य च''** इति चतुर्थपादः पठितः. पृथ्वीचन्द्रोदये पराशरः

''विवाहोत्सवयज्ञेषु सङ्ग्रामे जनसङ्कुले,
पलायने वनेऽरण्ये स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति'' [उद्ध.११](वृ.परा.स्मृ.८।३०६)

इति. षट्त्रिंशन्मतेऽपि

''देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु विततेषु च,
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति'' [उद्ध.१२](अत्रिस्मृ.२४७).

स्मृत्यन्तरे

''देवालयसमीपस्थान् देवयात्रासमागतान्,
चण्डालपतितादींश्च स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत्''
''अन्यथा यदि शङ्केत देवताद्रोहमाचरेत्''

इत्यपि तत्रैव.

स्पृष्टास्पृष्टिस्वरूपं च स्मृत्यर्थसारे उक्तम्

''प्राप्यकारीन्द्रियं स्पृष्टम् अस्पृष्टम् इतरेन्द्रियम्,
तयोस्तु विषयं प्राहुः स्पृष्टास्पृष्ट्यभिधानतः''

इति. अत्र च प्राप्यकारीन्द्रियं त्वगिन्द्रियम् इतरेन्द्रियं नयनादिकं तद्विषये स्पृष्टास्पृष्टिः तत्र दोषाभावः इति केचिद् इति पृथ्वीचन्द्रः. तथाच उक्तस्थलेषु तत्कर्मके तत्कर्तृके च स्पर्शादौ न दोषः इति अर्थः.

१३. अथ भगवत्सेवायां दैवपित्र्यकर्मसु स्नानादिना शुद्धस्य के वा अशुचित्वहेतवः कथं च ततः शुद्धिः इति विचार्यते.

तत्र ये पूर्वं स्नानार्हा उक्ताः तत्स्पर्शे तु स्नानम् असन्दिग्धमेव. ये पुनः

आचमनार्हाः तेषामपि स्पर्शे स्नानमेव. सदाचारचन्द्रोदये

''श्वकाकोष्ट्रखरोलूक-सूकरग्रामपक्षिणः,
दीपं शूर्पं तथा शय्यां पादत्राणं च मार्जनीम्,
स्नानान्ते यः स्पृशेद् एतान् पुनः स्नानेन शुद्ध्यति''

इति. बृहस्पतिना अन्येषां ग्रामपक्षिप्रभृतीनाम् आचमनप्रयोजकस्पर्शानामपि स्पर्शे स्नानबोधनात् तत्समानकक्षाणाम् अन्येषामपि स्पर्शे स्नानस्य [१]सक्तुहोमे अञ्जलि-व्याकोशत्ववद् औचित्यबलादेव प्राप्तेः. इदं च नाभेः ऊर्ध्वं स्पर्शे.

''नाभेरूर्ध्वं करौ मुक्त्वा यदङ्गं स्पृशते खगः,
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षालनात् शुचिः''

इति वाक्याद् इति सदाचारचन्द्रोदये. ममतु अन्यदपि प्रतिभाति. दीपादीनाम् अस्पृश्यत्वं लौकिकानामेव.

''अजारजः खररजः तथा सम्मार्जनीरजः,
दीपमञ्चकयोश्छाया हन्ति पुण्यं पुराकृतम्''

इति स्मृत्यन्तरे.

''शूर्पवातनखाग्राम्बु-स्नानवस्त्राङ्गमार्जनम्,
मार्जनीरेणुकेशाम्बु हन्ति पुण्यं पुराकृतम्'' [उद्ध.१४](अत्रिसं.३१६)

इति अत्रिस्मृतौ च तादृशामेव पुण्यहन्तृत्वोक्तेः, नतु वैदिकोपयुक्तानामपि स्पर्शे. अतएव देवत्वेन दानार्थम् उपस्थापितानामपि स्पर्शे स्नानाभावो युज्यते, अन्यथा [२]तस्य दुष्टत्वापत्तेः. श्राद्धादौ दीपदानस्य कार्तिकादिषु भगवद्दीपप्रबोधनस्य शूर्पार्पित-सौभाग्यद्रव्यस्पर्शस्य शय्यायां विष्णुमूर्तिस्थापनस्य गुरुपादुकादिस्पर्शस्य भगवन्मन्दिर-मार्जनादेश्च स्नानोत्तरम् अकर्तव्यत्वापत्तेश्च तेषां पुण्यजनकत्वापत्तेश्च. [३]अत्र वचनानि दानखण्डे सदाचारचन्द्रोदय-विष्णुभक्तिचन्द्रोदय-हरिवल्लभसुधोदय-प्रभृतिषु च द्रष्टव्यानि.

गुरुपादुकादीनां पूज्यत्वं च **''त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति''** (भाग.पुरा.१०।७२।४) इति श्रीभागवते भगवत्पादुकापरिचरणानुवादात्. भगवता कृष्णावतारे उद्धवाय रामावतारे भरताय च स्वपादुकादानाच्च सिद्धे तत्परिचरणे

''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ,
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'' (श्वेता.उप.६।२३)

इति श्वेताश्वतरश्रुत्या देववद् गुरुभक्तेरपि कर्तव्यत्वात् सिद्धम्. अतः तदुपानह

ऊर्ध्वाङ्गस्पर्शेऽपि अदोषः. तथा नृसिंहपुराणे दूतान् प्रति यमवाक्ये

''सम्मार्जनं च यो दूता गोमयेनोपलेपनम्,

करोति भवने विष्णोस्तस्य त्याज्यं कुलत्रयम्'' (नृसिं.पुरा.)

इति सम्मार्जनफलकथनाद् भगवन्मन्दिरसम्मार्जनरजसोऽपि पुण्यत्वे कुतः तत्सम्मार्जनीस्पर्शे दोषः? न च उपलेपनमेव सम्मार्जनम् इति शङ्क्यम्, श्रीभागवते **''सम्मार्जनोपलेपाभ्याम्''**(भाग.पुरा.११।११।३९) इति भगवद्वाक्यस्य द्विजवचन-विरोधापत्तेः. अतो लौकिकानामेव तेषां स्पर्शे स्नानं नतु शास्त्रीयाणाम् इति निश्चयः. किञ्च, स्नानोत्तरं नाभेः अधो उपानत्स्पर्शे यत्र दोषाभावः तत्र तीर्थादौ स्नात्वा उपानत्परिधानेन गृहागमने पादमात्रस्पर्शे दोषाभावो अर्थादेव सिद्धः. दूराद् आगमने मध्ये मार्गमध्ये उच्छिष्टादीनां पतितानां संसर्गस्य अशक्यपरिहारत्वेन अन्ततो गत्वा ''पादौ शुची ब्राह्मणस्य'' इति वाक्यं शरणीकरणीयम्. गृहे आगत्य पादशौचं च कार्यमेव. तथा सति अध्वगता अनेकदुःस्पर्शापेक्षया एकस्य उपानत्स्पर्शस्य अल्पत्वादपि तथा. केचित्तु **''पादुके खञ्जतो मेध्ये उत्तमाङ्गे ह्युपानहौ''** इति वचनमपि आहुः. तद्यपि समूलं तदा 'उत्तमाङ्ग'पदस्य उपानदुपरिभागबोधकत्वं ज्ञेयम्. स्नानोत्तरं गृहाद्यागमने उपानहावपि मूत्राद्युत्सर्गे अपरिहिते एवं साम्प्रदायिकशिष्टाचाराद्धार्ये(?). **''मूत्रं पुरीषं नो कुर्यात् सोपानत्कः कदाचन''** इति सदाचारचन्द्रोदये स्मृत्यन्तरे निषेधाद् इदानीं च सर्वदेशेषु तदानीं तत्परिधानदर्शनेन तदशुचित्वस्य स्फुटत्वाद् इति. शिष्टास्तु उपानत्स्पर्शमपि गुल्फाद् अधएव अदुष्टम् अङ्गीकुर्वन्ति. कलौ शिष्टाचारस्य स्मृत्यपेक्षयापि अधिकत्वात् तथैव उचितं नतु तदुपर्यपि इति. एवं च चार्मस्नेहविशेष-सन्धित-काष्ठपेटिकादिष्वपि सन्धायकस्नेहस्य शुष्कीभावे उपरि तदभावात् क्वचित् लेशेन सत्त्वेऽपि तद्बुद्ध्यभावाच्च तादृशपेटिकास्पर्शेऽपि न तत्कृतम् अशुचित्वं पुरुषस्य भोज्य-व्यतिरिक्तवस्तुनश्च इति बोध्यम्. भोज्यस्य तु तद् भवत्येव. यमेन ''कोशगतास्तथापः'' इति दृतिगतायां त्याज्यत्वकथनाद् न्यायसाम्येन भोज्यवस्तूनामपि तथात्वस्य युक्त्वात्, शिष्टानां तथैव आचाराद् इति. अन्यच्च मर्यादासिन्धौ देवलः

''ततः शरीरस्रोतोभ्यो मलनिःस्पन्द-निःस्रवात्,
अन्नादीनां प्रवेशाच्च स्याद् अशुद्धिर्विशेषतः,
पतिताशुच्यमेध्यानां स्पर्शनाच्चाशुचिर्भवेत्,
सुप्ताद् वस्त्रविपर्यासात् कृताद् अध्वपरिश्रमात्,
उक्त्वा च वचनं शुक्तम् अनृतं क्रूरमेव च,
द्रप्साविद्धां तनुं लक्ष्य दृष्ट्वाचम्य शुचिर्भवेत्,
प्रलेपस्नेहगन्धानाम् अशुद्धौ व्यपकर्षणात्,

शौचलक्षणमित्याहुः मृदपोगोमयादिभिः,
लेपे स्नेहे च गन्धे च व्यपकृष्टे सुदूरतः,
पश्चाद् आचमनं चापि शौचार्थं वक्ष्यते विधिः''

(देव.स्मृ.९।शरीरशुद्धिः)

इति. अत्र विवक्षितं शरीरच्छिद्रनिर्गतं मलं द्वादशधा मनु–विष्णुभ्याम् उक्तम्.

''वसा शुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रं विट् कर्णविण्नखाः,
श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदा द्वादशैते नृणां मलाः'' (मनु.स्मृ.५।१३५) इति.

वसा हृन्मेदः. 'शुक्र'पदं रजसोऽपि उपलक्षकम्. 'असृक्'पदं पूय–स्नायु–मांसादेः. 'कर्णविट्' कर्णमलम्. तद् अस्य मलस्य ष्ठीवनादेरपि उपलक्षणम्. 'नख'पदं केशलोमादेः. 'स्वेद'पदं गात्रमलानाम्. एतेषां 'निःस्पन्दम्' ईषद् निःसरणम्. 'निःस्रवो' भूयो निःसरणम्. अन्नादीनाम् इत्यादिपदं जलदुग्धौषधादीनामपि सङ्ग्राहकम्. तथा च एतेभ्यो अशुचिः भवति, कर्मकाले विशेषतो भवति इति अर्थः. अत्र निःस्पन्दस्यैव अशुद्धापादकत्वे ४निःस्रवस्य अर्थादेव अशुद्धिहेतुत्वप्राप्तेः तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तिः स्यादिति ५तद्वारणाय पूर्वोक्तमलेषु पूर्वषट्कस्य निःस्पन्देऽपि विशेषतो अशुद्धिः उत्तरषट्कस्य तु निःस्रवएव विशेषतो अशुद्धिः इति व्याख्येयम्. एवं च यद् बौधायनेन पूर्ववन् मलान् अभिधाय उक्तम्

''आददीत मृदोपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये,
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर् विशुद्ध्यति''(देव.समृ.९।शरीरशुद्धिः)

इति. तदपि सङ्गतं भवति इति. इयं च शुद्धिः तदङ्गस्य. सापि स्वकीयमलस्पर्शे, परकीयतत्स्पर्शे स्नानस्य पूर्वम् उक्तत्वाद् इति. तेन कर्मकाले पूर्वषट्कनिःस्पन्देऽपि स्नानम्. उत्तरषट्कस्य तु निःस्रव इति सिद्ध्यति. मनुनातु द्वादशानामपि निर्गमे मृद्वार्युपादानम् उक्तम्. तद् दैवपित्र्यकर्मकाले तद्योग्यत्वार्थम् इति गोविन्दराजः इति कुल्लूकभट्टीये. मर्यादासिन्धौतु उत्तरषट्कस्य जलमात्रेण गन्धलेपक्षयाभावः इति उक्तम्. उभयमपि कालभेदेन युक्तमेव. पतिताशुच्यमेध्यानाम् इति अत्र पतितानि यानि अशुच्यमेध्यानि इति अर्थः. अत्र 'अशुचि'पदेन औपाधिकाशौचद्रव्यम् उच्छिष्टादिकम्. अमेध्यं च स्वभावाद् अशुचिः इति भेदो बोध्यः. तत्र अमेध्यं तु देवलेन गणितम्

''मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवे वसा,
मेदोऽसृक्दूषिका श्लेष्मा मज्जा चामेध्यमुच्यते''(देव.स्मृ.९।अमेध्यत्वम्)

इति. एतेषां स्पर्शने अशुद्धिः स्फुटैव. अत्र अन्यत्र च मलेषु स्तन्यस्य अगणनात् तस्य निःस्पन्दादिना न अशुद्धिः. नच **''स्त्रियःक्षीरं द्विजः पीत्वा''** इति स्मृत्यन्तरे पुनः

संस्कारादिस्मरणात् सर्वदा अशुचित्वं शङ्क्यम्, तस्य पानएव तथात्वात्. अन्यथा ''**हस्ते दत्तानि चान्नानि प्रत्यक्षं लवणं तथा,**(व्याघ्र.स्मृ.३४८) **मृत्तिकाभक्षणं चैव गोमांसाशनवत् स्मृतम्**(?)'' इति वाक्योक्तानामपि स्पर्शे [६]तथात्वापत्तेः इति. सुप्तेतु अशुद्धिः दक्षेण उक्ता–

''**अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः,**
स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातः स्नानं विशोधनम्,
क्लिद्यन्ति हि प्रसुप्तस्य इन्द्रियाणि क्षरन्ति च,
अङ्गानि समतां गच्छन्त्युत्तमान्यधमैः सह'' (दक्षस्मृ.२।७)

इति. अत्र प्रसुप्तस्य इति कथनाद् आसीनप्रचलायिते लालास्वेदाद्यभावेन तथा न दोषः इति आचमनमात्रम्. लालादिस्रावेतु आसिनप्रचलायितेऽपि स्नानमेव. यद्यपि दक्षेण प्रातःस्नानं प्रक्रम्य सुप्तदोषः उक्तः तथापि दूषकताबीजस्य स्वापान्तरेऽपि तुल्यत्वात् प्रस्वापमात्रे [७]ज्ञेयः. वस्त्रविपर्यासे क्षुतादौ [८]वा आचमनमात्रम्, अल्पदोषत्वात्. अतएव सदाचारचन्द्रोदये पराशरः

''**क्षुते निष्ठीवने सुप्ते परिधानेऽश्रुपातने,**
कर्मस्थ एषु नाचामेद् दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्'' [उद्ध.१५](परा.स्मृ.१२।१८)

इति आहुः. सुप्ते इति आसीनप्रचलायिते बोध्यम्, युक्तेः उक्तत्वात्. इदं च श्रोत्राचमनम् आचमनाशक्तौ बोध्यम्. सदाचारचन्द्रोदये

''**कुर्याद् आचमनं स्पर्शं गोपृष्ठस्यार्कदर्शनम्,**
कुर्वीतालभनं वापि दक्षिणश्रवणस्य च,...
अविद्यमाने पूर्वस्मिन् उत्तरप्राप्तिरिष्यते'' (मार्क.पुरा.३१।७१,७२)

इति मार्कण्डेयपुराणात्. श्रोत्राचमनप्राशस्त्यं याज्ञवल्क्ये आह

''**गङ्गा च दक्षिणे कर्णे नासिकायां हुताशनः,**
उभयोः स्पर्शने चैव तत्क्षणादेव शुद्ध्यति'' (याज्ञ.स्मृ.) इति.

मुखजाः स्वल्पतमा बिन्दवस्तु वस्त्रादौ पतिताः शुद्धाएव न तु देहे. तद् आह गौतमः ''**न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेद् अङ्गे निपतन्ति**'' (व.१।३७) इति. ''उक्त्वा च वचनं शुक्तम्'' इत्यत्र 'शुक्त'पदेन परुषम् अश्लीलं च उच्यते. ''शुक्ताम्ले परुषे अपूते'' इति विश्वकोशात्. द्रप्साविद्धाम् इति घनीभूतश्लेष्मादिलिप्ताम्. शौचार्थं वक्ष्यते विधिः इति. सर्वशरीरशुद्ध्यर्थम् आचमनस्य प्रकारो वक्ष्यते इति अर्थः. यथा

''**स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे,**
आचान्तः पुनराचामेद् वस्त्रं विपरिधाय च'' (परा.स्मृ.१२।१७)

इत्यादि. शेषं स्पष्टम्.

अन्यच्च छन्दोगपरिशिष्टे

''पित्र्यमन्त्रानुद्रवणे आत्मालम्भे अवेक्षणे,
अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे,
मार्जारमूषकस्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे,
निमित्तेषु च सर्वेषु कर्म कुर्वंस्त्वपःस्पृशेत्''[उद्ध.१६]

(कात्या.स्मृ.२।१३,१४)

इति. अनुद्रवणम् उच्चारणम्. आत्मालम्भो हृदयस्पर्शः. तस्यैव अवेक्षणं च. शेषं स्फुटम्.

भगवत्सेवायान्तु अधोवायुसमुत्सर्गे स्नानमेव.

आगमे च

''अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम्'' ( )इति.

वाराहपुराणे च

''स्पृशन् माम् अग्रतो पूतिवातकं च प्रमुञ्चति,
वायुं पुरीषसंयुक्तं स पिबेत्तु न संशयः,
मक्षिका पञ्च वर्षाणि सप्त वर्षाणि मूषकः,
श्वा चैव त्रीणि वर्षाणि नव वर्षाणि कच्छपः''

[उद्ध.१७](वरा.पुरा.१३२।१,२)

इति अपराधेषु गणनात्, तत्फलस्य कथनात्. अजीर्णे स्नानस्य उक्तत्वेन अधोवायुसमुत्सर्गस्य च अजीर्णतएव प्रायो भवनाच्च स्नानस्यैव भगवत्सेवायाम् औचित्याद् इति. मार्जारस्पर्शे तु यत् स्नानं तत् मार्जारकर्मकस्पर्शविषयम्

''भास–वायस–मार्जार–खरोष्ट्रांश्च श्वसूकरान्,
अमेध्यानि च संस्पृश्य सवासा जलमाविशेत्'' (आङ्गि.स्मृ.)

इति अङ्गिरसो वाक्ये संस्पर्शकर्मतायाएव उक्तत्वात्. अन्यथा मार्जारकर्तृक–स्पर्शस्यापि दूषकत्वाङ्गीकारे **''मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः''** इति वाक्यविरोधापत्तेः. यद्वा, भाण्डादिस्पर्शे शुद्धिः शरीरस्पर्शे स्नानम् इति. दाक्षिणात्य–निबन्धेषुतु भोजने पूजादिकर्मणि पुच्छे बिडालस्पर्शे स्नानम्, अन्यदा तु शुचित्वम्.

''पुच्छे बिडालकं स्पृष्ट्वा स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति, भोजने कर्मकाले च विधिरेषः सनातनः'' इति रत्नावलीनिबन्धोदाहृत–स्मृतिवचनाद् इति उक्तम्. एवं च अस्नातादीनां वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शेऽपि वस्त्राद्यन्तरिस्पर्श इति पूर्वोक्तप्रचेतोवाक्यात् स्नानमेव. काष्ठाद्यन्तरितस्पर्शेतु आचमनं समाचारात्. तथैव अविकपट्टदुकूलाद्यन्तरित–स्पर्शेऽपि.

१४. अथ वस्त्रादिविषये [1]शुद्धिविचारः.

तत्र अहतस्य वस्त्रस्य प्रोक्षणात् शुद्धिः. अहतानां प्रोक्षणम् इति एके **''अहतं यन्त्रनिर्मुक्तम्''** इति अपरार्के वायुपुराणात्. इदं च मङ्गलएव शस्तम् इति पृथ्वीचन्द्रोदये

''अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं वासः प्रोक्तं स्वयम्भुवा,
शस्तं तन्माङ्गलिक्येषु तावत् कालं न सर्वदा'' (   )

इति भृगु–सत्यतपसोः वाक्याद् उक्तम्. अतो यद् अहतं वासः तत् सर्वकर्मसु शुद्धम्. तल्लक्षणं तु पृथ्वीचन्द्रोदये पुलस्त्य–शातातपौ सदाचारचन्द्रोदये कात्यायनश्च आह

''ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन् न धारितम्,
अहतं तद् विजानीयात् पावनं सर्वकर्मसु'' (कात्या.स्मृ.   )

इति. **ईषद्धौतम्** इति वारैकं रजकेन निर्णिक्तम् ईषद्धौतं केवलजलमात्र–प्रक्षालितम् इति पृथ्वीचन्द्रः. तथा सदाचारचन्द्रोदये

''अष्टहस्तं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्,
अहतं तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्'' (   )इति च.

अत्र एवं मम प्रतिभाति.

आचारतिलके

''शुक्रशोणितसंछर्दिश्लेष्ममूत्रपुरीषकम्,
स्निग्धदुर्गंधिजीर्णानि नव दोषाश्च वाससि'' (   )

इति कथनाद् एतद्दोषराहित्यमेव नवत्वम्. अन्यथा ''यन्न धारितम्'' इति अस्य वैयर्थ्यापत्तेः. श्वेतम् इति अनिषिद्धवर्णान्तरस्यापि उपलक्षकम्

''सवस्त्रोपस्करैर्युक्ता शय्या रक्तांशुकानि च,
पुष्पाणि चैव शुद्ध्यन्ति प्रोक्षितानि न संशयः'' (बृ.परा.स्मृ.   )

इति मर्यादसिन्धौ बृहत्पराशरवाक्यात्. द्वितीयवाक्ये 'अष्टहस्तम्' इति **''अहतं वासः परिधत्ते''** इति श्रुत्यादिषु अहतस्य [2]परिधानत्वबोधनात् तदर्हत्वबोधकं न तु

लक्षणस्यापि घटकम्. तथा सति अधारितम् ईषद्धौतं ''अधारितं नवम्'' अधारितं श्वेतम् अधारितं सदशम् इति चतुर्विधम् अहतं भवति. ततश्च तत्तत्कर्मणि तस्य-तस्य पवित्रत्वं सुखेनैव सम्भवति. यथा ईषद्धौतस्य तस्य यज्ञादिकर्मणि. नवस्य प्रावरणादौ उज्वलस्य चित्रकौसुम्भादेः सुवासिनी-राधादामोदरार्थकदानादिषु. सदशस्य गुर्जराणां परिणयकाले कन्यापरिधानादिषु. नवमपि अक्षालितं तु न भगवदुपयोगि. वाराहपुराणे

''नीलीरञ्जितवस्त्रं यो मर्त्यो मह्यं निवेदयेत्,

नवमक्षालितं चैव रौरवे नरके वसेत्'' (वारा.पुरा. ।)

इति निन्दनात्. ततश्च नीलीरञ्जिताक्षालितव्यतिरिक्तानां सर्ववर्णानां नवीनानां वस्त्राणां तथा मनुष्यानुपभुक्तानां धौतानां चित्राणां रक्तानां च निर्मलानां वस्त्राणां प्रोक्षणादेव शुद्ध्या भगवत्कर्मणि तेषां स्पर्शो न दोषावहः. किञ्च मर्यादासिन्धौ मेध्यस्य चातुर्विध्यं देवलेन उक्तं व्याख्यातं च

''शुचि पूतं स्वयं शुद्धं पवित्रं चेति केवलम्,

मेध्यं चतुर्विधं लोके प्रजानां मनुरब्रवीत्,

नवं वा निर्मलं वापि शुचीति द्रव्यमुच्यते,

शुद्धं पवित्रं पूतं च शुद्धम् इत्यभिधीयते,

स्वयमेव हि यद् द्रव्यं केवलं मेध्यतां गतम्,

स्थावरं जङ्गमं वापि स्वयंशुद्धमिति स्मृतम्,

अन्यद्रव्यैरदूष्यं यत् स्वयमन्यांश्च शोधयेत्,

हव्यकव्येषु यत्पूज्यं तत्पवित्रमिति स्मृतम्'' (देव.स्मृ.९।१-४)

इति. अत्र प्रथमश्लोके केवलम् इत्यस्य अमेध्यलेपहीनम् इति अर्थः. द्वितीयश्लोके शुचिसंज्ञं लक्षयति ''नवम्...'' इत्यादि. तत्र नवम् इति अचिरजातम्. तदपि उपभोगात् प्रागेव वर्जितम् इति वक्ष्यमाणत्वात्. निर्मलम् इति अनवमपि यत् मलशून्यम्. अग्रिमार्धे [३]तस्यैव संज्ञान्तरम् आह. तत्र आद्यः 'शुद्ध'शब्दः स्वयंशुद्धपरः. द्वितीयस्तु शुचिपर्यायः. एवं च शुचिद्रव्यमेव पुनः पूतादिसंज्ञायोगि नवत्वनिर्मलत्वसद्भावात्. संज्ञाभेदस्तु वक्ष्यमाणतत्तदुपाधियोगार्थम्. शुचीनि उदाहरति

''अथ सर्वाणि धान्यानि [४]द्रव्याण्याभरणानि च,

अवर्ज्यावर्ज्यज्ञातानि शुचीन्येतानि केवलम्'' [उद्ध.१८](देव.स्मृ.९।५)

इति. अत्र अत्यन्तम् अवर्ज्यम् अवर्ज्यावर्ज्यं तद् यथा स्यात् तथा ज्ञातानि अवर्ज्यावर्ज्यज्ञातानि केवलम् इति अमेध्यलेपवर्ज्यम्. पूतसंज्ञं लक्षयति

''वर्जिते निर्मले द्रव्ये शुचिसंज्ञा प्रवर्तते,

तस्मिन्नेव हि कर्मण्ये पूतसंज्ञा पुनर्भवेत्''[उद्ध.१९](देव.स्मृ.९।६)

इति. वर्जिते उपभोगशून्ये नवे निर्मले वा द्रव्ये कर्मार्थं कृतप्रोक्षणादिसंस्कारे पूतसंज्ञा भवति इति अर्थः. पूतसंज्ञोपाधिं दर्शयति

''तद्यच्छुद्धं न कर्मण्यं शुचीत्याहुर्द्विजातयः,
निर्मलं संस्कृतं द्रव्यं क्रियार्थं पूतमुच्यते'' [उद्ध.२०](देव.स्मृ.९।७)

इति. एतेन शुचेरेव द्रव्यस्य क्रत्वर्थसंस्कारयोगः पूतसंज्ञोपाधिः इति अर्थः. स्वयंशुद्धं लक्षयति स्वयमेव हि इत्यादि. यद्द्रव्यं गृहादिकम् अमेध्यलेपहीनम् अशुचिस्पर्शमात्रदूषितं सत् स्वयमेव पुरुषव्यापारं विनैव वायुरश्मिमात्रेणैव शुद्धतां याति तत् स्वयंशुद्धम् इति उच्यते इति अर्थः. तदेव उदाहरति

''वसतिश्चमसो यानं वाहनं साधनानि च,
क्षुरो नौरासनं चेति स्वयंशुद्धमिति स्मृतम्'' (देव.स्मृ.९।८)

इति. वसतिः गृहम्. चमसो होतृचमसादि. यानं रथादि. वाहनं हयादि. साधनं खड्गादि. शेषं स्फुटम्. तथा

''पशवश्च स्वयंशुद्धा योषितश्चानृतौ तथा,
ब्रह्महत्यादि नारीणां ऋतुकाले हि संस्पृशेत्,
आकराश्च स्वयंशुद्धा द्रव्याणामिति निश्चयः,
क्रीतं च व्यवहारिभ्यां पण्यं शुद्धमिति स्मृतम्,
अदृष्टं वाक्प्रशस्तं च स्वयंशुद्धं च केवलम्,
त्रीण्येतानि विशुद्धानि भगवान् मनुरब्रवीत्''

[उद्ध.२१](देव.स्मृ.९।१०,१२,८)

इति. एतानि इति अदृष्टादीनि. विशुद्धानि इति शुद्ध्यन्तरानपेक्षाणि. पवित्रं लक्षयति अन्यद्रव्यैः इत्यादि. अनेन शुचिनएव अन्यादूष्यत्वम् अन्यशोधकत्वं वा पवित्रसंज्ञोपाधिः इति उक्तम्. तदेव उदाहरति

''अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः,
पुष्पितास्तरवो मेध्या ब्राह्मणाश्चैव सर्वदा'' (देव.स्मृ. ९।१४)

''भस्म क्षौद्रं सुवर्णं च सदर्भाः कुतपास्तिलाः,
अपामार्गशिरीषार्काः पद्ममामलकं मणिः,
माल्यानि सर्षपा दूर्वाः सदा भद्राः प्रियङ्गवः,
अक्षताः सिकता लोहा हरिद्राश्चन्दनं यवाः,
पालाशखदिराश्वत्थ–तुलसीधातकीवटाः,
एतान्याहुः पवित्राणि ब्रह्मज्ञा हव्यकव्ययोः,

पौष्टिकानि मलघ्नानि शोधनानि च देहिनाम्,
तेष्वापो गोशकृन्–मृच्च पवित्राणि विशेषतः,
सर्वाशुचिविशुद्ध्यर्थं सर्वेषां सर्वतः सदा''

उद्ध.२२(देव.स्मृ. ९।२१–२४)

इति. अतो नवत्वनिर्मलत्वाभ्यां शुचेः वस्त्रादिपदार्थस्य शंखोदकप्रोक्षणादिना संस्कारेण पूतत्वादपि [५]तथेति न तत्र स्पर्शदोषः. यत्तु कर्मठा ऊषादिना चैलनिर्णेजकधौतानां पुनः प्रक्षालनेऽपि शोधकद्रव्यदोषाद् दुष्टत्वं मन्यन्ते तत्तु तैत्तिरीयश्रुतौ सद्ग्यावृत्कामनया विहितस्य दाक्षायणयज्ञस्य कर्तारं प्रत्येव नतु अन्यान् प्रति. श्रुतौ

''तस्यैतद् व्रतं नानृतं वदेत् न मांसम् अश्नीयात् न स्त्रियम् उपेयात् नास्य पल्यूलनेन वासः पल्यूलयेयुरेतद्धि देवाः सर्वं न कुर्वन्ति''

इति तं प्रत्येव विधानात्. अतः तत्सहपठित–व्रतान्तरसाहित्यएव युक्तम् इति. किञ्च, एकादशस्कन्धे

''द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च,
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा,
शक्त्याऽशक्त्याऽथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने,
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः''

(भाग.पुरा.११।२१।१०,११)

इति भगवद्वाक्यात्. श्रीधरीये च

''देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्,
उपपत्तिम् अवस्थां च ज्ञात्वा शुद्धिं प्रकल्पयेत्''

उद्ध.२३(बौधा.स्मृ.५।५५)

इति बौधायनीयवाक्याच्च. स्वशक्तिसमृद्ध्यादिकं द्रव्यस्वरूपं द्रव्यप्रयोज–नादिकं च आलोच्य द्रव्याशौचस्य कल्पनीयत्वाद् अनुशासनादपि तदालोच्य तादृशस्पर्शे दोषाभावः. तेन वितानप्रतिसीरादीनां नवीनकरणाशक्त्यापि [६]तथा इति बोध्यम्. भगवद्–वाक्यार्थस्तु द्रव्यस्य पात्रवस्त्रादेः शुद्ध्यशुद्धी. द्रव्येण तोयादिना शुद्धिः. मूत्रादिनातु अशुद्धिः. वचनेन शुद्धम् अशुद्धं वा इति सन्देहे ''इदं शुद्धम् अस्ति'' इत्यादिरूपेण ब्राह्मणवचनेन शुद्धिः, 'न' इत्यादिरूपेण अशुद्धिः. संस्कारेण प्रोक्षणादिना पुष्पादिशुद्धिः, अवघ्राणादिनातु अशुद्धिः.

अथ कालेन, दशाहादिना नवोदकादेः शुद्धिः, विपरीतेन अशुद्धिः. तदुक्तम्

''काले मेघोदकं ग्राह्यं वर्ज्यं तु त्र्यहमेव हि,
अकाले दशरात्रं स्यात् ततः शुद्धिर्विधीयते''

इति. तथा, अन्नादेः अपर्युषितस्य शुद्धिः विपरीतस्य अशुद्धिः. महत्त्वाल्पतया यथा अन्त्यजाद्युपहतानां तडागाद्युदकानां महत्त्वाल्पत्वाभ्यां शुद्ध्यशुद्धी. शक्त्याशक्त्या सूर्योपरागादौ सूतकादौ च अन्नादेः शक्तान् प्रति अशुद्धिः अशक्तान् प्रति तु शुद्धिः. बुद्ध्या पुत्रजन्मादेः दशाहाद् बहिः ज्ञानेन शुद्धिः, अन्तर्ज्ञानेन अशुद्धिः. समृद्ध्या जीर्णमलवद्वस्त्रादेः समृद्धान् प्रति अशुद्धिः, दरिद्रं प्रति शुद्धिः. तत्रापि विशेषम् आह ''...यदात्मने'' इत्यादि. एते द्रव्यवचनादयो द्रव्यानादयो द्रव्याशुद्धिद्वारा आत्मने यद् अघं कुर्वन्ति तद् देशावस्थानुसारतएव यथावत् कुर्वन्ति नतु सर्वतः. तथाहि, निर्भयदेशएव स्नानादिना शुद्धिं कुर्वन्ति, नतु चोराद्याकुले. तथा रोगादिरहित–युवाद्यवस्थायामेव अघं कुर्वन्ति, नतु बाल्यादि रोगाद्यवस्थायां च इति बौधायनवाक्यं स्फुटार्थम्. तथा सति यद्ब्राह्मेऽपि उक्तम् ''**प्रत्यहं क्षालयेद् वस्त्रं दैवे पित्र्ये च कर्मणि**'' (ब्रह्म.पुरा.   )इति. यच्च लैङ्गे ''**देवकार्योपयोग्यानां प्रत्यहं शोचमिष्यते**'' (लिङ्गपुरा.   )इति तदपि वर्षादिव्यतिरिक्तकालएव इति बोध्यम्. वर्षादौ तु दिनान्तरे क्षालितानां कर्मार्हत्वाय प्रोक्षणमेव शुद्ध्युपायः. सएव च भगवते महाराजोपचारेण पूजाकरणेऽपि बोध्यः. कालकृतदोषस्य [७]तेनापि परिहाराद् इति. तथा, अस्नातेन काष्ठादिभिः धौतवस्त्रस्य आनयनेऽपि न दोषः. उपाकर्तव्यपशोः स्पर्शस्थले तदन्वारम्भणे यजमानमृत्युः अनन्वारम्भणे स्वर्गलोकाद् हानिः इति दोषौ प्रदर्श्य वपाश्रपणीभ्याम् अन्वारभते तद् नैव अन्वारब्धं नैव अनन्वारब्धम् इति उभयदोषोपशमार्थं श्रावितस्य स्पर्शन्यायस्य अत्रापि स्पर्शदोषाभावाय अङ्गीकारे बाधकाभावात्. केचित्तु

''आविकं पट्टकूलं च कृष्णाजिनमथापि वा,
एभिः प्रवेष्टितं वस्त्रं प्रोक्षणादेव शुद्ध्यति''

इति वचनमपि पठन्ति. न च ''वस्त्राद्यन्तरितस्पर्शे'' इति प्रचेतोवचनविरोधः. [८]तस्य अस्पृश्यस्पर्शविषयत्वेन विषयभेदात्. किञ्च, अपरार्के स्मृत्यन्तरेण मर्यादसिन्धौ देवलेन अमेध्यस्य चातुर्विध्यम् उक्तम्

''दूषितं वर्जितं दुष्टं कश्मलं चैव लिङ्गिनाम्,
चतुर्विधममेध्यं च सर्वं व्याख्यास्यते पुनः,
शुच्यप्यशुचिसंस्पृष्टं द्रव्यं दूषितमुच्यते,
अभक्ष्यभोज्यपेयानि वर्जितानि प्रचक्षते,
[९]व्यङ्गः पतितचाण्डालौ ग्राम्यकुक्कुटसूकरौ,

श्वा च नित्यं विवर्ज्याः स्युः षडेते कर्मतः समाः,

सव्रणः सूतकी सूती मत्तोन्मत्तरजस्वलाः,

मृतबन्धुरशुद्धश्च वर्ज्या एते स्वकालतः,

स्वेदाश्रुबिन्दवः फेनो निरस्तं नखलोम च,

आर्द्रं चर्मासृगित्येतद् दुष्टमाहुर्मनीषिणः,

मानुषास्थि वसा विष्ठा रेतोमूत्रार्तवानि च,

कुणपं पूयमित्येतत् कश्मलं समुदाहृतम्'' इति.

[उद्ध.२४](देव.स्मृ.९।२९-३४)

''दूषितैः प्रोक्षणेनापि शुद्धिरुक्ता विधानतः,

दृष्टैर्मार्जनसंस्कारैः कश्मलैः सर्वथा त्यजेत्'' [उद्ध.२५](देव.स्मृ.९।३५)

इति च. अत्र लिङ्गिनाम् इति दण्डादिलिङ्गधारिणाम्. अभक्ष्य इति अत्र नञः त्रिष्वपि सम्बन्धः. व्यङ्गो जन्मतएव अङ्गहीनः. त्यक्तः इति पाठे ज्ञातिबाह्यः. नित्यं विवर्ज्या इति सर्वदैव अस्पृश्याः. उन्मत्तः इति चित्तविक्षेपवान्. दूषितैः दुष्टैः इति अत्र दूषितस्य इति शेषः. कश्मलैः इति अत्र दूषितम् इति शेषः. स्फुटम् अन्यत्. एवं सति अस्नातस्य [१०]एतेषु अनन्तर्भावादपि अदोषः. किञ्च, आश्वलायनस्मृतौ

''परिधाने सितं शस्तं वासः प्रावरणे तथा,

पट्टकूलं यथालाभं ब्राह्मणस्य विधीयते,

आविकं त्रसरं चैव परिधाने परित्यजेत्,

शस्तं प्रावरणे प्रोक्तं स्पर्शदोषो नहि द्वयोः,

भोजनं च मलोत्सर्गं कुरुते त्रसरावृतः,

प्रक्षाल्य त्रसरं शुद्धं [११]दुकूलं सर्वदा शुचिः'' (आश्व.स्मृ.१।२८-३०)

इति कथनात्.

''रेतःस्पृष्टं शवस्पृष्टं स्पृष्टं मूत्रपुरीषयोः,

रजस्वलाभिः संस्पृष्टम् आविकं तु सदा शुचिः'' (आङ्गि.स्मृ.४५)

इति आविकस्य अङ्गिरसा कश्मलस्पर्शेपि अदुष्टत्वकथनाच्च तद्वेष्टितस्य कुतो दोषसंसर्गः? तस्माद् न अयम् आचारो दुष्टः इति निश्चयः. मूत्राद्युपघाते तु वस्त्रं दुष्यत्येव. तदाह अपरार्के यमः

''यदि मूत्रपुरीषाभ्यां रेतसा रुधिरेण वा,

चैलं समुपहन्येत अद्भिः प्रक्षालयेत्तु तत्,

यद्यम्भसा न शुद्ध्येत्तु वस्त्रं चोपहतं दृढम्,

छेदनं तस्य दाहो वा यन्मात्रमुपहन्यते'' ( )

इति. मद्याद्युपघातेऽपि एवम्. उच्छिष्टोपघाते तु क्षालनम् अर्थादेव सिद्धम्.

यानि तु

''सोषैरुदकगोमूत्रैः शुद्ध्यत्याविककौशिकम्,
सश्रीफलैः अंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा,
सगौरसर्षपैः क्षौमम्'' (याज्ञ.स्मृ.१।१८६)

इत्यादीनि याज्ञवल्क्यवाक्यानि तानितु अधुना न आद्रियन्ते. किन्तु आविकादीनि वस्त्राणि तत्तन्निर्णेजकैः अवशोद्ध्यन्ते तदपि युक्तम्. एकादशस्कन्धे

''अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धलेपं व्यपोहति,
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते'' (भाग.पुरा.११।२१।१३)

इति भगवता फलतौल्यस्यैव आदरणात्. अतः तद्धावनोत्तरं प्रोक्षणादिकरणं सम्यगेव इति. किञ्च अङ्गिराः **''शौचं** [१२]**महार्घरोमाणां वाय्वग्न्यर्केन्दुरश्मिभिः''** (अङ्गि.स्मृ.) इत्यपि उक्तम्. एवमेव रज्ज्वादीनां वस्त्रवच्छुद्धिः. तथाह व्यासः

''वस्त्रं मृदम्भसा शुद्ध्येद् रज्जु वै दलमेव च,
रज्ज्वादिकं चातिदुष्टं त्याज्यं तन्मात्रमेव च'' (व्यासस्मृ.)

इति. या लोके 'निवार' इति उच्यते सापि रज्जुभेदएव तत्कार्यकरणाद् इति ज्ञेयम्.

१५. अथ पात्रादिशुद्धिविचारः.

तत्र याज्ञवल्क्यः

''सौवर्णराजताब्जानाम् ऊर्ध्वपात्रग्रहाश्मनाम्,
शाकं रज्जुः मूलफलं वासो विदलचर्मणाम्,
पात्राणां चमसानां च वारिणा शुद्धिरिष्यते'' (याज्ञ.स्मृ.१।१८२)

इति. सौवर्णं सुवर्णस्य विकारः, राजतं रजतस्य. अब्जं मुक्ताशङ्ख शुक्त्यादि. ऊर्ध्वपात्रं [१]महावीरादि-ग्रहादिसाहचर्यात्. ग्रहाः षोडशिप्रभृतयः. अश्म दृषदादि. शाकं वास्तुकादि. रज्जुः बल्वजादिनिर्मिता बन्धनोद्धरणादिसाधनभूता. मूलम् आर्द्रकादि. फलम् आम्रादि. वासो वस्त्रम्. विदलं वेण्वादि. चर्म अजादीनाम्. विदलचर्मणोः ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रवरत्रादीनाम् उपलक्षणार्थम् इति विज्ञानेश्वरः. पात्राणि अन्यानि लौकिकान्यपि. चमसा होतृचमसादयः. एतेषां सौवर्णादीनां लेपरहितानाम्

उच्छिष्टस्पर्शमात्रे वारिणा प्रक्षालनेन शुद्धिः इति विज्ञानेश्वरः. तेन उच्छिष्टस्पर्शाभावे प्रक्षालनाभावः इति तदाशयः. इयं शुद्धिः लौकिक-वैदिकसाधारणी, मध्ये शाकादि-निवेशात्. तेन पाकाद्यर्थान्नादिसम्भाराभृतानां[पा.भे.२] पात्राणां शाकादीनां च पर्युषितत्व-निवृत्त्यर्थमपि इदं क्षालनविधानं कैमुतिकादपि आयातीति तत्तु मम प्रतिभाति. सम्भारभूतान्तु प्रोक्षणादेव शुद्धिः, धान्यादीनां प्रोक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वाद् इति. सलेपानां शुद्ध्यन्तरम् आह ‘‘**चरु-स्रुक्-स्रुवसस्नेह-पात्राण्युष्णेन वारिणा**’’ इति. एतानि लेपसहितानि उष्णेन वारिणा शुद्ध्यन्ति इति विज्ञानेश्वरः. अनुच्छिष्टत्वेऽपि ईषल्लेपवताम् एषां शुद्धिः. प्रथमतएव चर्वादिलेपबोधनाय ‘चरु’पदोपादानाद् लेपराहित्ये औष्ण्यस्य अप्रयोजनकत्वापत्तेश्च

‘‘निर्लेपं काञ्चनं भाण्डम् अद्भिरेव विशुद्ध्यति,
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम्’’ (मनु.स्मृ.५।११२)

इति मनुवाक्ये केवलानामेव उक्तत्वाद् इति तु मम प्रतिभाति. अपरार्केऽपि एवम्. उक्ते मनुवाक्ये ‘अनुपस्कृतम्’ इति अस्य अखातपूरितम् इति अर्थं विज्ञानेश्वरः आह. मेधातिथिस्तु अत्यन्तानुपहतम् इति अर्थम् आह. अपरार्कस्तु ताम्रादिना यद् न संसृष्टम् इति आह. मर्यादासिन्धौ तु ‘‘**उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु**’’ (पा.सू.६।१।१३९) इति पाणिनिना वैकृते सुटो अनुशासनात् चित्ररेखादिरूप-विकाररहितम् इति अर्थः उक्तः. इदमेव युक्तं रेखादिगर्तेषु लेपस्य केवलवारिणा अनपनयाद् इति. निर्णयामृतेऽपि एवम् उक्तम्. बहुलिप्तानां तु मनुः आह

‘‘तैजसानां मणीनां तु सर्वस्याश्ममयस्य च,
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः’’ (मनु.स्मृ. ५।१११)

इति. तैजसानाम् इति धातुमात्रजन्यानाम्.

‘‘हेमं ताम्रं च रजतं कांस्यायस्त्रपुसीसकाः,
एते च तैजसाः प्रोक्ता धातवस्तैजसोद्भवाः’’

इति वाक्यात् तानि बोध्यानि. अत्र ‘कांस्य’पदं पित्तलस्यापि उपलक्षकम्, ब्रह्माण्डे ‘‘**कांस्यायस्ताम्ररीत्यानि**’’ (बृह्मा.पुरा.   )इति रैत्यानां धातुपात्रेषु उल्लेखात्. त्रपु तु व(ब?)ङ्गम्. जसतं तु तस्यैव भेदः सीसस्य वा इति बोध्यम्. मृद्भस्मनोः एककार्यत्वाद् विकल्पः. आपस्तु समुच्चीयन्ते इति विज्ञानेश्वरो मर्यादासिन्धुश्च.

ममतु अन्य प्रतिभाति. ब्रह्मवैवर्ते

‘‘नित्यं नूतनभाण्डेन कर्तव्यः पाक एव च,
अथवा पक्षपर्यन्तं ततस्त्याज्यं मनीषिभिः,

स्थानं तु संस्कृतं कृत्वा पाकं निर्वर्त्य पूजकः'' (ब्र.वै.पुरा.   )

इति भगवता श्रीनन्दं प्रति वैष्णवब्राह्मणधर्मेषु प्रत्यहं पाकभाण्डत्यागकथनाद् मृण्मयव्यतिरिक्तानां भाण्डानां च प्रत्यहं हातुमश् अक्यत्वात् तेषां भाण्डानां वह्नि-ज्वालोत्थ-मषीनिवारणमेव नूतनीकरणं पक्षान्तरस्य उक्तत्वात् च इति तादृशशिष्टाचाराद् अगवम्यते. तन्मषीनिवृत्तिश्च भस्मना न भवति मृदा च भवतीति तत्र मृद्ग्रहणम्. कांस्यपात्रलेपस्तु भस्मना निवर्तते इति तत्र भस्मग्रहणम् इत्येवं विभागः इति. इयं च निर्लेपेषल्लिप्तातिलिप्तानां शुद्धिः उच्छिष्टस्पर्शेऽपि तुल्यैव इति सर्वेषां सम्मतम्. तत्र ऊर्ध्वाधोभेदेन उच्छिष्टद्वैविध्याद् ऊर्ध्वोच्छिष्टपुरुषस्पर्शे यथोक्ता शुद्धिः यदङ्गम् उच्छिष्टं तेन स्पर्शे मृदादिकम् आदेयम्. तथैव अधोच्छिष्टपुरुषहस्ते स्पर्शेऽपि तदङ्गस्पर्शेतु अमेध्यलिप्तस्य या शुद्धिः सा कार्या इति मम भाति. चार्मेषु विशेषो याज्ञिकदेवकृते स्मृतिसारे उक्तः

''गोमूत्रवारिणा शूर्पं धूपेन स्नेहकूपिकाः,
चर्मणा सद्यः शुद्धिः स्याद् गोमूत्रैर्गोरसर्षपैः''

इति. यत्तु पुनः अन्यद् उक्तम्

''त्र्यहं भस्म च मृद्वारि त्रिफला च दिनत्रयम्,
कषायाः सप्तरात्रं स्याद् एतच्चर्मविशोधनम्,
भस्मनः पलमेकं तु द्विगुणं मृद एव च,
कषायास्त्रिगुणाः प्रोक्ताः त्रिगुणा त्रिफला भवेत्,
आम्रो जम्बूस्तथा धात्री प्लक्षश्चैव चतुर्थकः,
अश्वत्थोदुम्बरवटाः कषायाः सप्त कीर्तिताः''

एतद् अल्पोपघातविषयम्.

१६. अथोच्छिष्टस्पृष्टपात्रशुद्धिविचारः.

तत्र शङ्ख आह

''ब्रह्मक्षत्रविशां चैव सकृत्सम्मार्जनात् शुचिः,
चतुर्थेन तु यद्भुक्तं चतुर्भिस्तत्र मार्जनम्,
अग्नौ प्रक्षिप्य गृह्णीयाद् हस्तौ प्रक्षाल्य यत्नतः,
गोशृंगेण तु संस्पृष्टं तत्पात्रं शुचितामियात्''

(शंख.स्मृ.१ [आचाराध्याय] ।५ [शुचिद्रव्याणि])

इति. इदं च कांस्यव्यतिरिक्ततैजसविषयम्, कांस्यस्य अधिकशुद्धेः अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. मर्यादासिन्धौ तु पात्रान्तरे शङ्खे न विशेषः उक्तः

''सिद्धार्थकानां कल्केन दन्तशृंगमयस्य च,

गोवालैः फलपात्राणाम् अस्थ्नां स्यात् शृंगवत् तथा''

(शंख.स्मृ.१६।१०)

इति. इदं च अल्पोपघाते. अधिकोपघातेतु शृंगाणां वायुपुराणे अवलेखन–विधानाद् इति उक्तम्. किञ्च, मनुस्तु

''अग्नेश्चापां च संयोगाद् हेमरूप्यं च निर्बभौ,

तस्मात् तयोश्च संयोगाद् निर्णेको गुणवत्तरः'' (मनुस्मृ.५।११३)

इति आह. अर्थस्तु, **''अग्निर्वै वरुणानीरकामयत''** इति अर्थवादे हेमरूप्ययोः जलाग्निसंयोगजन्यत्वोक्तेः तयोः स्वकारणेन शोधनम् अत्युत्तमम् इति. किञ्च,

''ताम्रा यः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च,

शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः'' (मनुस्मृ.५।११४).

हारीतस्तु

''अद्भिः काञ्चनशङ्ख शुक्तीनां तद्गुणवर्जनं स्नेह–वैवर्ण्योपहतानां यवगोधूमकलायमाषमसूरमुद्गगोमयः चूर्णैः धावनम्. अम्ललवणाभ्यां ताम्राणाम्. भस्मना कांस्यानाम्. शाणतैलघर्षणैः कार्ष्णायसानाम्. सिकतावघर्षणैः शैलानाम्. शिलावघर्षणमार्जनैः मणिमयानाम्. निर्लेखनैः दारुमयानाम्. पुनः पाकेन मार्तिकानाम्. गोमूत्रगोमयबिल्वैः वैदलानां गोवालरज्ज्वा सोदकया फलपात्राणां कमण्डलूनां यतिपात्राणां च इति विबर्भाज''. (   )

अत्र तद्गुणवर्जनम् इति तद्गन्धाद्यपकर्षणम्. स्नेहवैवर्ण्योपहतानाम् इति उच्छिष्टादिस्नेहनविवर्णं यथा भवति तथा उपहतानाम्. यवादिचूर्णानि तु तुल्यार्थत्वाद् विकल्प्यन्ते. उदकं तु सर्वैः शोधनद्रव्यैः समुच्चीयते. शाणां लोहतैक्ष्ण्यसाधनम्. तच्च क्षुरछुरिकाद्यायुधशोधनाय नतु कटाहादिशोधनाय इति तदर्थं सिकताघर्षणं बोध्यम्. शिलावघर्षणमार्जनं स्वर्णकारादिभिः पाषाणविशेषे घर्षणेन उज्ज्वलीकरणम्. कांस्ये इतोऽपि विशेषम् आहुः पराशर–शातातपापस्तम्बाः

''गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च,

शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च'' (परा.स्मृ.७।२४)

इति. **''दशकृत्वो मार्जनात् शुद्ध्यन्ति''** इति निर्णयामृतापरार्कौ. शङ्खस्तु तोऽपि विशेषम् आह

''सूतिकोच्छिष्टभाण्डस्य सुराद्युपहतस्य च,

त्रिःसप्तमार्जनात् शुद्धिः न तु कांस्यस्य तापनम्''(शंखस्मृ.१।५)

इति. कांस्यभिन्नानां तैजसानां सूतिकोच्छिष्टादिके स्वल्पोपघाते यवचूर्णादिभिः एकविंशतिवारं मार्जनादेव शुद्धिः. ''**नतु कांस्यस्य तापनम्**'' इत्यनेन अर्थात् कांस्यव्यतिरिक्तानां तापनं कार्यम् इति गम्यते इति अपरार्कः. निर्णयामृतेतु यवादीनां शोधकानां सप्तसङ्ख्याकत्वाद् एकैकेन त्रिवारं शोधनात् तैजसान्तरस्य शुद्धिः नतु कांस्यस्य, तस्य तु मार्जनतापनाच्च इति उक्तम्. तत्र अपरार्कोक्तमेव युक्तम्, स्मृत्यन्तरे सुरादिलेपे तापस्य उक्तत्वात्, तदपेक्षया उच्छिष्टस्य अल्पत्वाद् इति अपरार्क–निर्णयामृतयोः आदित्यपुराणे

''**सुवर्णरूप्यशङ्खाश्म–शुक्तिरत्नमयानि च,**
कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपुसीसमयानि च,
निर्लेपानि विशुद्ध्यन्ति केवलेन जलेन तु,
शूद्रोच्छिष्टानि शोध्यानि त्रिधा क्षाराम्लवारिभिः''(आदि.पुरा.   )

इति. अत्र क्षारादिद्रव्यत्रित्वात्रिधात्वम्. मार्जनं यथार्हं चतुष्कृत्वो दशकृत्वश्च वचनान्तरवशाद् इति उक्तम्. मर्यादासिन्धौ तु ब्रह्मपुराणे इति उक्त्वा क्षाराम्लवारिभिः इत्यन्तम् अभिधाय

''**सूतिकाशवविण्मूत्र–रजस्वलाहतानि च,**
प्रक्षेप्तव्यानि तान्यग्नौ यच्च यावत् सहेदपि''   (ब्रह्मपुरा.   )

इति अधिकम् उक्तम्. यच्च यावद् इति प्रागुक्तक्षालनोत्तरं यत् पात्रं यावत्कालम् अग्निसंयोगं सहते यावताग्निप्रक्षेपेण न नश्यति तावत् कुर्याद् इति सर्वैरेव व्याख्यातं च. तेन अयं निष्कर्षः. त्रैवर्णकोच्छिष्टं निर्लेपं भाण्डं मार्तिकम् उच्छिष्टपुरुषस्पृष्टं प्रोक्षणेन शुद्ध्यति. सलेपन्तु अवचूडनात्. अवचूडनं नाम अग्निसंयोग:

''**अलेपं मृण्मयं भाण्डं भाण्डसञ्चयमेव च,**
प्रोक्षणादेव शुध्येत्तु सलेपं ह्यग्निचूडनात्''   (बृ.परा.स्मृ.८।३३४)

इति बृहत्पराशरवाक्यात्. उच्छिष्टकरादिस्पर्शे तु तस्य अवचूडनं दाहश्च यथायथं मृण्मयानां पात्राणाम् उच्छिष्टसमारब्धानाम् अवचूडनम् उच्छिष्टसलेपोपहतानां पुनर्दहनम् इति बौधायनवचनात्. पुनर्दहनं नाम पुनः पाकः. सच रूपरसगन्ध–स्पर्शपरावृत्तिफलको अग्निसंयोग:. दार्वादीनान्तु उच्छिष्टपुरुषस्पर्शे दोषाभाव: प्रोक्षणं वा. सलेपानां तु तक्षणं उच्छिष्टसलेपपाण्यादिस्पृष्टानां च ''**तक्षणं दारुशृंगाणाम्**'' (याज्ञ.स्मृ. १।१८५) इति याज्ञवल्क्यवाक्यात्. तथैव वैदलानां व्यजनादीनां प्रक्षालनात्. गोमूत्रगोमयबिल्वैः घर्षणपूर्वकं जलप्रक्षालनाच्च. एवमेव चर्मणां चैलवद्वक्ष्यमाणरीत्या च पूर्वोक्तयाज्ञवल्क्यहारीतयोः वाक्यात्.

अत्र यद्यपि काचपात्राणां कागदपात्राणां च शुद्धिः कुत्रापि न विचारिता तथापि विष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयकाण्डीयद्रव्यशुद्ध्यध्याये काचभाण्डशुद्धिः उक्ता **''शुद्धिश्च काचभाण्डानां केवलेन तदाम्भसा''** (वि.धर्मो.पुरा. ।) इति. कागदीयस्य तु तत्रापि न उक्ता. तत्र चीनीयानां केचन काचविशेषत्वं, केचन मार्तिकत्वं, केचन कपर्दजन्यत्वं लोकाः वदन्ति. तत्र कापर्दकत्वे अब्जत्वम्. तथा सति वारिणा शुद्धिः अल्पोपघाते. मध्यमात्यन्तोपघातयोस्तु त्यागएव. अस्थिजन्यत्वेन तक्षणशोध्यत्वात् तक्षणस्य च तत्र अशक्यत्वाद् इति. मार्तिकत्वे काचत्वे च वारिणा अवचूडनेन सहनार्हदाहेन च इति. परन्तु चीनीयानि पात्राणि शिष्टा न गृह्णते, तदुत्पत्तिप्रकारस्य कदर्यत्वाद् इति. तदुत्पत्तिप्रकारस्तु वैद्यग्रन्थे अर्कप्रकाशाख्ये रावणेन उक्तः

''अथ वक्ष्ये तु जीर्णास्थिमृत्तिकाकरणं प्रिये,
शिलाजतुस्थले कुर्याद् दीर्घं गर्तं मनोहरम्,
निक्षिपेत् तत्र तान् अस्थिसञ्चयान् द्विचतुष्पदाम्,
सर्जिक्षारं महाक्षारं मृत्क्षारं लवणानि च,
गन्धकोष्णजलं क्षेप्यं नानामूत्राणि तत्र च,
एवं कृत्वा मासषट्कं दद्यात्पाषाणमृत्तिकाम्,
कङ्कास्यूर्ध्वं तदूर्ध्वं तु कुर्याद् वह्निष्टिकां शुभाम्,
त्रिवर्षाज्जायते सर्वम् एकीभूतं दृषत्समम्,
ततो निष्कास्य तच्चूर्णं कृत्वा पात्राणि निर्ममेत्'' (अर्कप्रकाश)इति.

कागदीयानां तु यथायोग्यं प्रोक्षणक्षालनशोषणैः शाणत्वात्. मिताक्षरायां क्षौमवच्छाणशुद्धेः उक्तत्वाद् इति तु मम प्रतिभाति. अन्येषाम् अतैजसानामपि पूर्वोक्तयाज्ञवल्क्यहारीतादिवाक्येभ्यो ज्ञेया. निर्लेपं कांस्यभिन्नं तैजसं तु त्रैवर्णिकैः उच्छिष्टैः अनुच्छिष्टाङ्गेन स्पृष्टं न दुष्यति. उच्छिष्टहस्तादिस्पृष्टं तु सकृत् सम्मार्जनात्. त्रैवर्णिक-सूतिका-रजस्वलाभ्यां स्पर्शेन उपहतन्तु एकविंशतिकृत्वः सम्मार्जनात्. तदुच्छिष्टोपघाते तु सह्याग्नितापोत्तरं पूर्वोक्तरीत्या सम्मार्जनात्. एवमेव रजस्वलोपघातेऽपि. उच्छिष्टशूद्रस्पर्शे तु क्षालनात्. तदुच्छिष्टं तु चतुर्भिश्चतुष्कृत्वः सम्मार्जनसह्यदाहात् तदुत्तरं गोशृङ्गस्पर्शाच्च. गवाघ्रातेऽपि एवम्. कांस्यं तु त्रैवर्णिकस्पृष्टं क्षालनात्. उच्छिष्टाङ्गस्पृष्टं तु सकृत् सम्मार्जनात्. शूद्रोच्छिष्टं क्षारैः दशकृत्वो मार्जनाद् अवचूडनाच्च. ''यावत् सहेद्''इति वाक्यात्. गवाघ्रातेऽपि एवम्. शूद्रीसूतिकयोस्तु उच्छिष्टं कांस्यं त्याज्यं. तथा अङ्गिरास्तु

''गण्डूषं पादशौचं च यः कुर्यात् कांस्यभाजने,

षण्मासं भुवि निःक्षिप्य पुनराकारमादिशेत्'' [उद्ध.२६](अङ्गि.स्मृ.४१)

इति आह. अत्र 'कांस्य'पदं पित्तलस्यापि उपलक्षकम् इति भाति.

१७. अथामेध्यस्पृष्टशुद्धिविचारः.

तत्र अमेध्यं देवलेन उक्तम्

''मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं वसा,

मेदोऽश्रु दूषिका श्लेष्मा मद्यं चामेध्यमुच्यते'' (देव.स्मृ.१।९।२८)

इति. अत्र शवादिकं पश्वादीनां मूषकपल्लीपर्यन्तानां बोध्यम्. ततः स्वल्पानां कीटेषु पातात्. विष्ठामूत्रे मार्जारपर्यन्तानां बोध्ये. आखुपुरीषस्य अन्ने पतितस्य दर्शने तावद्ग्रासमात्रोद्धरणकथनेन अतिदूषकत्वाभावाद् इति. मद्यं तु द्वादशविधमपि. तच्च पुलस्त्येन उक्तम्

''पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्,

मधूत्थं सैरमारिष्टं मैरेयं नारिकेलजम्,

समानानि विजानीयात् मद्यान्येकादशैव तु,

द्वादशं तु सुरा मद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्'' (पुल.)

इति. तत्र तैजसानां मूत्राद्युपघाते शुद्धिः अपरार्कनिर्णयामृते च बौधायनेन उक्ता. तैजसानां मूत्रपुरीषशुक्रासृक्कुणपमद्यैः अत्यन्तवासितानाम् आवर्तनम्. अल्पसंसर्गे तु परिलेखनम्. स्पर्शमात्रोपघाते तु त्रिःसप्तकृत्वो भस्मना परिमार्जनम्. अतैजसानाम् एवंभूतानाम् उत्सर्गः इति. आवर्तनम् अग्निसंयोगेन द्रवीकरणम्. परिलेखनं शस्त्रेण अभितो अवयवनिस्तक्षणम्. परिमार्जने तु हारीतोक्तो विशेषोऽपि द्रष्टव्यः. शातातपस्तु

''सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु कृष्णायसं तथा,

रीतिकासीसलोहानि शुद्ध्यन्त्यश्मप्रघर्षणात्''

इति आह. तथा स्मृत्यन्तरे

''भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं सुरया यन्न लिप्यते,

सुरामूत्रपुरीषैस्तु शुद्ध्यते तापलेखनैः'' (आप.स्मृ.८ । १)

''ताम्रमम्लेन शुद्ध्येत्तु न चेद् आमिषलेपितम्,

आमिषेण तु यल्लिप्तं पुनर्दाहेन शुद्ध्यति''. (बौधा.स्मृ.)

एवं बौधायनवद् विष्णुरपि आह

''विण्मूत्ररेतःशवरक्तलिप्तमावर्तनोल्लेखनतापनैर्वा,

त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनाद् वा भस्मादिना शुद्धि्यति तैजसं हि''

(विष्णु.स्मृ.)

इति. तैजसानां रेतोविण्मूत्रासृक्कुणपादिभिः चण्डालसूतिकोदक्यापतितादिभिः चिरम् उपहतानाम् आवर्तनम्. तदल्पकालोपहतानां परिलेखनम्. ततोऽपि अल्पकालो–पहतानां प्रतापनम्. स्पर्शमात्रोपहतानाम् एकविंशतिकृत्वो भस्मादिभिः मार्जनम्. ‘‘प्रतिमार्जनं क्षालनम्’’ इति अपरार्के व्याख्यातम्. निर्णयामृते तु तैजसानां मूत्राद्युपघाते पुनः करणम्. गोमूत्रे वा सप्तरात्रं परिवासनम् इति बौधायनवचनम् उपन्यस्य लेपनिर्हरणाशक्तौ पुनःकरणम्. अन्यथा गोमूत्रवास इति व्यवस्थापितम्. तदपि युक्तम्. एवं च बिडालपल्लीप्रभृतिमूत्रादिस्पर्शे अत्यन्तोपघातादौ च अनयैव दिशोद्भाव्य शुद्धिः बोध्या. तथा झिल्लीप्रभृतिक्षुद्रजीवस्य शाकादौ पतितस्य रन्धनोत्तरं ज्ञाने पाचनस्थाल्यां तदवयवानां भूयो लेपात् तापनं पल्लीमूषकादेः एवम्भावे उल्लेखनम्. एवमेव शफरीजलौकःप्रभृतिकुणपसंसर्गेऽपि उन्नेयम्. तथैव च स्पृष्टपात्रस्यापि भोजनपात्रे तस्य अल्पस्पर्शाद् भस्मादिना मार्जनं साक्षात् स्पर्शे च अधिकमार्जनम् इति उन्नेयम्. किञ्च,

‘‘ताम्रपात्रेतु यद्गव्यं कांस्यपात्रे च यन्मधु,
आर्द्रकं गुडसंयुक्तं सद्यो मद्यं घृतं विनेत्’’

इत्यादिस्मृत्यन्तरवाक्योक्तानाम् अल्पाशुचीनां स्पर्शेऽपि मार्जनादेव शुद्धिः न त्वन्या. अतएव सदाचारचन्द्रोदये षट्त्रिंशन्मते

‘‘होमकार्ये तथा दोहे पाके च परिवेषणे,
स्नानतर्पणदानेषु ताम्रे गव्यं न दुष्यति’’

इति उक्तम्. तथैव दीपस्पृष्टमात्रेऽपि ज्ञेयम्. किञ्च, गवाघ्रातादीनां दशभिः मार्जनैः पराशरादिवाक्ये शुद्धिः उक्ता. शङ्खे न तु कृष्णशकुनिमुखावसृष्टं निर्लिखेत्. **‘‘श्वापदमुखावसृष्टं पात्रं न प्रयुञ्जीत’’** (शङ्खस्मृ.)इति उक्तम्. तत्रापि शङ्ख वाक्ये मुखपदाद् एषा शुद्धिः अङ्गान्तरस्पर्शे पूर्ववाक्योक्ता इति बोध्यम्. श्वापदश्च मार्जारभिन्नो बोध्यः, **‘‘मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः’’** ( )इति वाक्याद् इति विज्ञानेश्वरः. एतदेव युक्तम्. पात्रसंघादौ तु स्पृष्टस्यैव अशुचित्वं न इतरस्य. तदुक्तम् अपरार्के हारीतेन

‘‘संहतानां तु पात्राणां यद्येकम् उपहन्यते,
तस्यैव शोधनं कार्यं न तु तत्स्पृष्टिनामपि’’

इति. शङ्खोऽपि

‘‘मलं संयोगजं स्वं वा [१]यस्य येनोपहन्यते,
तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत्’’ (शंखस्मृ.१ ।५ ।१)

इति. अयं शोधनप्रकारः पूर्वोपन्यस्तहारीतोक्तविभागानुसारेण ज्ञेयः. येषां

वाचनिकी शुद्धिः न दृश्यते तादृशान्तु शुद्धिं मर्यादसिन्धौ शातातप आह

''अशुचिं संस्पृशेद् यस्तु एकएव स दुष्यति,

तं स्पृष्ट्वाऽन्यो न दुष्येत्तु सर्वद्रव्येष्वयं विधिः'' (शाता.स्मृ.)

इति. तेन इंधनादौ चीवरादिसंसर्गे तत्सम्बन्धिस्वरूपं विचार्य अशुद्धिः कल्पनीया. बिडालपुरीषादिसंसर्गे तु तस्य अमेध्यत्वात् तत्स्पृष्टस्पर्शिनामपि अशुचित्वम् तथा आचाराद् इति बोध्यम्. बौधायनस्तु, दारुमयानां पात्राणाम् उच्छिष्टसमारब्धानाम् अवलेखनम्. उच्छिष्टलेपोपहतानामेव तक्षणं मूत्रपुरीषरेत:प्रभृतिभिः उत्सर्गः इति आह. अत्र अवलेखनं [२]वस्त्रादिना घर्षणम्. तक्षणस्य पृथगुक्तत्वाद् इति. मर्यादासिन्धौ तु शवचण्डालपुरीषैरपि अल्पोपघातेऽपि घर्षणम् इति उक्तम्. केचित्तु पुरीषसंसर्गे गन्धलेपापनयनक्षम–तक्षणम्. शवादिस्पर्शे मृद्वारिभ्यां क्षालनं, श्वादिस्पर्शे बृसीपीठादीनां क्षालनमेव इति आहुः. तदापि पाकोपयोगिनां तु त्यागएव इति प्रतिभाति. शृंगदन्तास्थि–मयानामपि एवम्. मणिमयादीनां मूत्राद्युपघाते विष्णुः आह **''मणिमयम् अश्ममयम् अब्जं सप्तरात्रं महीनिखननेन''** (विष्णुस्मृ.)इति. उच्छिष्टाद्युपघाते तु कश्यपः. सिकताभिदन्तशृङ्गशंखशुक्तिमणीनाम् इति आह अपरार्के. वैदलानां [३]वेणुवेत्र–नडनिचुलादिमयानामपि दारववदेव शुद्धिः. तत्रापि वेणुवेत्रादेः वस्त्राधानी चेत् तदा प्रयोजनविचारेण गन्धलेपक्षयाधायकक्षालनादिनैव शुद्धिः. पक्कान्नादिस्थापनपात्रं चेत् तदा त्यागएव इत्यादि ऊह्यम्. मृण्मयानां तु पुनः पाकेन शुद्धिः उक्ता. सा च श्वादिस्पर्शदोषएव नतु दोषान्तरे. तदुक्तं मनुना

''मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः

संसृष्टं नैव शुद्ध्येत्तु पुनः पाकान् महीमयम्'' (मनुस्मृ.५ । १२३)

इति. मर्यादासिन्धौ तु ष्ठीवनैः पूयशोणितैः इति पाठः उभयथापि मलान्तरोपलक्षकत्वं निर्वाह्यं चण्डालादिस्पर्शे तु त्यागः.

''चण्डालैरुपसंस्पृष्टं धान्यं वस्त्रमथापि वा,

प्रक्षालनेन शुद्ध्येत्तु परित्यागे महीमयम्''

इति अपरार्के स्मृत्यन्तरात्. फलापात्राणां शुद्धिस्तु उक्तैव. कश्मलसंसर्गे तु त्यागएव. किञ्च अपरार्के ब्राह्मे मृदम्बुभिः इति प्रकृत्य

''रज्जुवल्कलपात्राणां चमसालाबुचर्मणाम्,

कृत्वा शौचं ततः शुद्धिः गोवालैर्घर्षणं पुनः'' (ब्रह्म.पुरा.) इति.

चर्मणां तु सामान्यतः कश्यप आह. तृणकाष्ठरज्जु–भूर्जशणक्षौमजतुचर्म–वेणुविदलफलपत्र–वल्कलादीनां चैलवत् शौचम्. मृद्दारुचर्मणाम् अत्यन्तोपहतानां

त्यागः. असंस्कृतायां भूमौ न्यस्तानां प्रक्षालनम्. परोक्षाहृतानाम् अभ्युक्षणम्. एवं क्षुद्रसमिधाम् असंस्कृतामेध्याद्युपहतानाम् एकपुरुषोद्धार्याणाम् इति. काच्छपवलयानां शुद्धिः चर्मशुद्ध्यैव व्याख्याता ज्ञेया. एवम् अन्येषामपि.

१८. अथ शय्यादिशुद्धिविचारः

तत्र बौधायनः.

''आसनं शयनं यानं नावः पन्थास्तृणानि च,
मारुतार्केणशुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च,
आत्मशय्यासनं यानं जायापत्यं कमण्डलुः,
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु'' (बौधा.स्मृ.१।५।६२,६१).

हारीतः.

''यानशयनान्यपरिहार्याण्येके मन्यन्ते. तद् न, वर्णविशेषात् शुचिमलिनसंसर्गदर्शनात् पापसंसर्गयोगश्च.तस्मात् पृथक् शौचाः श्रेयांस'' (हारि.स्मृ.)

इति. अत्र 'मन्यन्ते' इत्यन्तं पूर्वपक्षम् उक्त्वा 'तद् न' इत्यादिना सिद्धान्तितम्. अर्थस्तु, धर्मशास्त्रे वर्णानाम् उत्तराधरभावेन विशेषदर्शनात्. किञ्च, पातकोपपातक–कृद्भिः मलिनैः तद्रहितानां शुक्लानां तुल्यशय्यादियोगेन संसर्गस्य प्रायश्चित्तनिमित्ततया अभिधानत्. अकृतैनसोऽपि मलिनसंसर्गे व्याधितसंसर्गे नीरोगस्येव पापोत्पत्तिदर्शनाच्च पृथक्शुद्ध्यादिवशेन पृथक्शौचत्वमेव श्रेयः इति. तर्हि स्वीयालाभे किं कार्यम्? इति आकांक्षायां पुनः हारीतः **''स्वानुपपत्तौ शुच्यन्तर्धाय समामनन्ति संस्पर्शे सचैलं स्नानमेवं हि आह''** (हारि.स्मृ.)इति. अर्थस्तु, स्वकीयशय्याद्यलाभे कम्बलादिना शुद्धेन तदन्तर्धाय उपयोक्तव्यम्. यतः पतितादेः शय्यादिसंस्पर्शे सचैलस्नानम् इति चैलाधिकारः इति अपरार्के व्याख्यातम्. एतेनैव आसनतूलिकादिकमपि व्याख्यातं ज्ञेयम्. किञ्च,

''शयनासनयानानि द्रव्यं च बहुसंहतम्,
चण्डालादिभिरप्येतत् स्पृष्टं सम्प्रोक्षणात् शुचिः''

इति तत्रैव स्मृत्यन्तरवाक्यम्. किञ्च, तूलिकादीनाम् उच्छिष्टादिस्पर्शे तु सर्वनिबन्धेषु देवलः

''तूलिकाम् उपधानं च पुष्परक्ताम्बरं तथा,
संशोष्यानातपे किञ्चित् करैः सम्मार्जयेत् पुनः,
पश्चाच्च वारिणाऽभ्युक्ष्य विनियुञ्जीत कर्मणि,

तान्यप्यतिमलिष्ठानि यथावत् परिशोधयेत्'' इति.

(देव.स्मृ.९।तैजसादिद्रव्यशुद्धिः)

बृहत्पराशरस्तु

''सवस्त्रोपस्करैः युक्ता शय्या रक्तांशुकानि च,

पुष्पाणि चैव शुद्ध्यन्ति प्रोक्षितानि न संशयः'' (बृ.परा.स्मृ.)

इति आह.

१९. अथ धान्यादिशुद्धि विचारः.

तत्र मनुः

''अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्,

प्रक्षालनेन त्वल्पानाम् अद्भिः शौचं विधीयते'' (मनुस्मृ.५ । ११८)

याज्ञवल्क्योऽपि

''प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धान्यवाससाम्'' (याज्ञ.स्मृ.१।१८४)

इति. अत्र बहुत्वं धान्यानां न स्वरूपकृतम् किन्तु बहुत्वेन अनेकपुरुषोद्धार्यत्वं लक्ष्यते इति अपरार्कः. युक्तं च एतत्. अन्यथा कणत्रयेण मुष्टिमात्रेण वा बहुत्वापत्तेः विशेषणवैयर्थ्यं स्याद् इति. सएव सम्मतिमपि आह बौधायनस्य. संहतानां काष्ठादीनां प्रक्षाल्यावशोषणं चण्डालादिस्पर्शे पुरुषवाह्याद् अर्वाक्. ऊर्ध्वन्तु अनेकपुरुषोद्धार्ये दारुशिले भूमिसमे इति.

लौगाक्षिश्च

''चाण्डालादिपरामृष्टं प्रोक्षणाद् बहु शुद्ध्यति

अल्पं प्रक्षालयेद्धान्यं तण्डुलं तु परित्यजेत्'' (लौगा.स्मृ.)

इति. तण्डुलम् इति वितुषं धान्यमात्रम्. त्यागस्तु अल्पविषयः शुद्ध्यन्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात्. तद् आह बौधायनः

''व्रीहयः प्रोक्षणाद् अद्भिः शाकमूलफलानि च

तन्मात्रस्यापहाराद् वा निस्तुषीकरणेन वा'' (बौधा.स्मृ.)

इति. चण्डालादिस्पर्शे अनेकपुरुषोद्धार्याणां व्रीहीणां प्रोक्षणं मूत्रादिसंसर्गे तन्मात्रम् अपहारः. अशुचिपांस्वादिद्रव्यसंयोगे निस्तुषीकरणम् इति अर्थः.

कश्यपस्तु

''प्रोक्षणपर्यग्निकरणावगाहनैः व्रीहियवगोधूमानां विमर्शन–

प्रोक्षणैः फलीकृतानां निघर्षणदलनप्रोक्षणैः शमीधान्यानाम्''

(कश्य.स्मृ.)

इति आह. अर्थस्तु, अनेकपुरुषोद्धार्याणां व्रीह्यादीनां त्रयाणां यथाक्रमं प्रोक्षणादिभिः शुद्धिः. पर्यग्निकरणन्तु उल्मुकस्य सर्वतो भ्रामणम्. अवगाहनं क्षालनम्. फलीकृतानां व्रीह्यादितण्डुलानाम् अल्पत्वे विमर्शनेन शुद्धिः अनेकपुरुषोद्धार्यत्वे प्रोक्षणेन. खण्डनेन उज्ज्वलीकरणम्. कराभ्यां घर्षणं विमर्शनम्. शमीधान्यानां कोशीधान्यानां मुद्गादीनां एकपुरुषोद्धार्याणां निघर्षणेन ततो अल्पानां दलनेन अनेकपुरुषोद्धार्याणां तु प्रोक्षणेन इति. अत्र 'निघर्षण'पदेन पूर्वोक्तं विमर्शनमेव उच्यते. अल्पत्वे तु त्यागः इति उक्तम्. आदित्यपुराणे तु

''गृहदाहे समुत्पन्ने विपन्ने पशुमानुषे,
अभोज्यस्तद्गतो व्रीहिः धातुद्रव्यस्य सङ्ग्रहः,
मृण्मयेनावरुद्धानाम् अधो भुवि च तिष्ठताम्,
यवमाषतिलादीनाम् अदोषं मनुरब्रवीत्,
ततः संक्रममाणेऽग्नौ स्थाने स्थाने च दह्यते,
न च प्राणिवधो यत्र केवलं गृहदीपनम्,
तत्र द्रव्याणि सर्वाणि गृह्णीयाद् अविचारयन्'' (आदि.पुरा.)

इति उक्तम्. तदेतद् अपरार्कस्थं प्रमेयम्.

मिताक्षरायां तु विज्ञानेश्वरः. बहुत्वं स्पृष्टापेक्षया यदा धान्यानि वस्त्रादीनि वा राशीकृतानि तत्र चाण्डालादिस्पृष्टानि अल्पानि बहूनि अस्पृष्टानि. तत्र स्पृष्टानां वाससां क्षालनात्. अस्पृष्टानां प्रोक्षणात्. धान्यानां तावन्मात्रोद्धरणोत्तरं प्रोक्षणात्. स्पृष्टानां बहुत्वे तु धान्यवाससां क्षालनादेव. समत्वे तु प्रोक्षणादेव. इयत् स्पृष्टम् इयद् अस्पृष्टम् इति अविवेके तु क्षालनादेव. अनेकपुरुषोद्धार्यत्वे स्पृष्टानामपि प्रोक्षणादेव इति आह. एतेनैव परम्परास्पर्शोऽपि व्याख्यातप्रायएव. मर्यादसिन्धौ तु द्रोणाधिकानां बहुत्वम् उक्त्वा देशं कालम् इति बौधायनवाक्यात्. देशकालद्यपेक्षया बहुत्वं केचिद् आहुः. यथा दुर्गतस्य दुर्भिक्षे कुड्वपरिमितमपि इति उक्तम्. इदमेव च युक्तम्, पूर्वोक्तैकादशस्थ–भगवद्वाक्यात्. एवं वाससामपि बहुत्वम् अनेकपुरुषोद्धार्यत्वेन त्रिभ्योऽधिकत्वेन च पूर्वोक्तरीत्या उन्नेयम्. नागदेवीये तु सङ्ग्रहकारः.

''सुश्वेतान्यथ चित्राणि कौसुम्भानि यथाक्रमम्,
विंशत्येकादशत्रीणि बहूनीति स्मृतान्यथ''

इति आह. संहतत्वं तु उक्तशुद्धिद्रव्यारब्धावयवित्वम् इति विज्ञानेश्वरः. मर्यादासिन्धौ तु संहतत्वं नाम अनेकेषां शय्यादीनां स्यूतत्वं यद्वा संहतत्वं कठिनत्वम्. तेन शीतघृतगुडामिक्षादिकं संहतम्. यद्वा

''शयनासनयानानि रोमबद्धानि यानि तु,
वस्त्राण्येतानि सर्वाणि संहतानि प्रचक्षते''

उद्ध.२७(देव.स्मृ.९।तैजसदिशुद्धिः)

इति अङ्गिरोभिहितानि संहतानि इति उक्तम्. रोमबद्धानि कम्बलादीनि इति च तत्र उक्तम्. पूर्वोक्तभगवद्वाक्योक्तरीत्या तस्य-तस्य तथा युक्तत्वात् सर्वम् एतद् उपपन्नम्. जलव्यतिरिक्तानां द्रवाणां तु प्लावनात् शुद्धिः. **''प्लावो द्रवस्यतु''** इति याज्ञवल्क्यवाक्यात्. तत्र प्लावो नाम समानजातीयेन द्रव्येण भाण्डस्य अपूरणं यावता निःसरति इति विज्ञानेश्वरः. पात्रस्थे घृतादौ तावत्समानजातीयम् अन्यदासिच्यते यावत्पूर्णे पात्रे किञ्चिन्मात्रं बहिर्निःसरति इति अर्थः. अमेध्यसंस्पृष्टद्रव्यस्पृष्टस्यापि एषैव शुद्धिः इत्यपि सएव आह. एतदेव उत्पवनम् इति आहुः **''द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्''** (मनुस्मृ.५।११५) इति मनुवाक्यात्. उत्पवनं च अत्र वस्त्रान्तरिते पात्रे प्रक्षेपः. अन्यथा कीटाद्यपनयनस्य असम्भवाद् इति विज्ञानेश्वरः. इदं च केशकीटमक्षिकान्वित इति बोद्धव्यम्. कुलूकभट्टीये तु प्रादेशपरिमाणकुशपत्रद्वयाग्राभ्यां ''पवमानः सुवर्जन'' इत्याद्यनुवाकेन उत्पवनं स्पृष्टस्य अंशस्य अपनयनं वा उत्पवनम् इति उक्तम्. एतच्च प्रस्थपरिमाणे. अल्पस्यतु त्यागएव. एतच्च श्वकाकाद्युपघाते. वर्णापसदभाण्डस्पर्शे तु भाण्डान्तरे तदासिच्य यावता तद्बहिः निःसरति तादृशप्लावं विधाय शेषम् उत्सृजन्ति शिष्टाः. मधूदके पयः तद्विकाराश्च पात्रात् पात्रान्तरनयने शुद्धा इति बौधायनस्मरणात्. शूद्रभाण्डस्थितानामपि एषैव शुद्धिः. वर्णापसदहस्तात् प्राप्तानां तु पात्रात् पात्रान्तरनयनं पुनः पवनं च कार्यम्. अभ्यवहार्याणां घृतेन अभिधारितानां पुनः पवनम् एवं स्नेहानां स्नेहवद्रसानाम् इति शंखस्मरणात्. शाकादीनां तु दूषितत्यागे शेषस्य आप्लावनात् शुद्धिः. तदुक्तं मर्यादसिन्धौ ब्राह्मे

''सस्यानि व्रीहयश्चैव शाकमूलफलानि च,
त्यक्त्वाथ दूषितं भागं प्लाव्यान्यन्यजलेन च''(ब्राह्म.पुरा.) इति.

म्लेच्छादिभाण्डस्थितौ तु बृहत्पराशरः

''आममांसं घृतं क्षौद्रं स्नेहश्च फलसम्भवाः,
म्लेच्छभाण्डस्थिता ह्येते निष्क्रान्ताः शुचयः स्मृताः'' इति.

(बृ.परा.स्मृ.८।३३०)

तथा

''आभीरभाण्डसंस्थानि पयोदधिघृतानि च,
तावत्पूतं हि तद्भाण्डं यावत् तत्र नितिष्ठति,
पूतानि सर्वपण्यानि कारुहस्तस्थितानि च'' (बृ.परा.स्मृ.८।३३०)

इति. अत्र म्लेच्छभाण्डस्थितानां चतुर्णां शुद्धिम् उक्त्वा अग्रिमवाक्ये पयोदध्नोः आभीरभाण्डस्थयोरेव शुद्धिकथनात् म्लेच्छजातीयाभीरभाण्डस्थयोः पयोदध्नोः अग्राह्यत्वं बोधितम्. उचितं च एतत्, **''न नीचो यवनात् परः''** इति वाक्यात्. सर्वपण्यानां पूतत्वकथनेन शाकफलादीनां ततोऽपि ग्राह्यत्वं च बोध्यते. आम्रादिफलानां बहुदिनैः भोगाय ततो गृहीत्वा सञ्चेष्यमाणानामपि प्रोक्षणमात्रेण शुद्धिः क्षालयित्वा स्थापने पूयीभावात्. इदं च शुद्धिकल्पनम् उपपत्तिप्रयोजनयोः बलात् ज्ञातव्यम्. कारुहस्तस्थितानि इत्यनेन रजकतन्तुवायादिसंसर्गकृताया अशुद्धेः अपवादः. तेन अवरजातीयानामपि कारुणां शिल्पिक्रियया द्रव्यम् उत्पादयतां संस्कुर्वतां वा प्रसक्तं प्रत्यवायहेतुत्वं निवार्यते. तथा सति रजकसेकादिभिः संस्कृतानां वस्त्रादीनां [१]कुविन्दशूर्पकारादिभिश्च उत्पाद्यमानानां द्रव्याणां शुचित्वमेव इति वाक्यतात्पर्यम्. ततश्च येन अन्नादिद्रव्येण शिल्पिस्पृष्टेन विना द्रव्योत्पत्तिसंस्कारौ न भगवतः तदपि शुद्धत्येव. यथा वस्त्रोत्पत्तौ खलिः. अतएव शंखः **''कारुहस्तः शुचिः तथा आकरव्याणि प्रोक्षितानि''** [उद्ध.२८](शंखस्मृ.१।५।प्रोक्षणेन शुद्धिः) इति. आकरो द्रव्योत्पत्तिस्थानं तद्द्रव्याणि च आकरद्रव्याणि. पैठीनसिः विशेषम् आह **''आकराः शुचयः सर्वे वर्जयित्वा सुराकरम्''** (बौधा.स्मृ.१।५।५८) इति एतद् अपरार्कमतम्. विज्ञानेश्वरस्तु कारूणां सूतकादिसम्भवेऽपि तत्साध्ये कर्मणि तद्धस्तस्य शुचित्वम्. तथाच स्मृत्यन्तरम्

''कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च,
राजानो राजभृत्याश्च सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः''

इति आह उभयमपि इदं युक्तम्.

२०. अथ सिद्धान्नशुद्धिविचारः.

तत्र अपरार्के सदाचारचन्द्रोदये च यमः

''मक्षिकाकीटमन्ने तु पतितं यदि दृश्यते,
मूषकस्य पुरीषं वा क्षुतं यच्चावधूनितम्,
भस्मना स्पृष्टमश्नीयाद् अभ्युक्ष्य सलिलेन वा''. (यमस्मृ.)

तथा

''अवक्षुतं केशपतङ्गकीटैरुदक्यया वा पतितैश्च दृष्टम्,
अलातभस्माम्बुहिरण्यतोयैः संस्पृष्टमन्नं मनुराह भोज्यम्'' ( )

इति. अत्र अवधूनितं नाम यदुपरि वस्त्रावधूननं कृतम्. अवक्षुतं नाम यदुपरि क्षवथुः कृतः. अत्र 'मक्षिका'पदेन नीलमक्षिका उच्यते. बौधायनेन हविर्दोषेषु नीलमक्षिका

शातिकामत्कुणाश्चैलशिरसोर्यूतिका इति अभिधानाद् इति अपरार्कः. अतएव सदाचार-चन्द्रोदये वाक्यान्तरे मक्षिकादीनाम् अदुष्टत्वम् उक्तम्

''मक्षिकादंशमशका घुणाः सूक्ष्माः पिपीलिकाः,
आमिषामेध्यसौरी च नैते कीटा विपत्तयः''

इति उक्तम्. आमिषामेध्यसौरीशटितमांसोद्भवः कीटः. विपत्तयः इति दोषाय न भवेयुः इति व्याख्यातं च. पूर्वस्मिन् वाक्ये कीटो अमेध्यसर्पी इति अपरार्कः. बौधायनश्च केशकीटनखरोमाखुपुरीषाणि अन्ने दृष्ट्वा तन्मात्रम् अन्नं परित्यज्य अद्भिः सम्प्रोक्ष्य भस्मना संस्पृश्य प्रशस्तवचसा तु गृह्णीयात्. ''**भूर्भुवः सुवः**'' इति उपरिष्टाद् ध्यात्वा पुनरेव भुञ्जीत इति आह. सदाचारचन्द्रोदये तु त्वक्केशेति पाठयुक्तम् ईदृगेव याज्ञवल्क्य-वाक्यम्.

यत्तु गौतमः ''**नित्यमभोजं केशकीटावसन्नम्**'' (गौत्त.स्मृ.१७) इति आह तत् केशादियुक्त-पाकविषयम् इति निर्णयामृते मिताक्षरायां च. इदमेव युक्तम्. अन्यथा वाक्यान्तरविरोधापत्तेः इति. गोघ्रातेऽपि अन्ने पूर्वोक्तैव व्यवस्था

''गोघ्रातेऽन्ने तथा केश-मक्षिकाकीटदूषिते,
सलिलं भस्म मृद्वापि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये'' (याज्ञ.स्मृ.१।१८९)

इति मार्कण्डेयपुराणाद् याज्ञवल्क्योक्तेश्च. श्वकाकाद्युपघाते तु पराशरः

''शृतं द्रोणाधिकं चान्नं श्वकाकैरुपघातितम्,
अत्याज्यं तस्य शुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत्,
कर्तव्यं वचनं तेषाम् अन्नसंस्कारकर्मणि,
श्वकाकाद्यवलीढं तु त्यक्त्वा लालासमन्वितम्,
गायत्र्यष्टसहस्रेण मन्त्रपूतेन वारिणा,
भोज्यं तत्प्रोक्षितं विप्रैः पर्यग्निकृतमेव च''(परा.स्मृ.   ) इति.

जमदग्निश्च

''शृतान्नं द्रोणमात्रं स्यात् स्वकाकादिप्यघातितं,
केशकीटावशन्नं च तदप्येवं विशुद्ध्यति,
क्रीतस्यापि विनिर्दिष्टम् एवमेव मनीषिभिः,
न द्विःपक्वं पर्युषितं शुक्ताद्येवं कदाचन'' (जम.स्मृ.   )

इति. द्रोणः षट्पञ्चाशदधिकं पलशतद्वयम्. अष्टसहस्रेण इति अष्टाधिक-सहस्रेण. केशकीटावसन्नं तु केशकीटकसहपक्वं बोध्यम्. तेन बहुपाके गौतमोक्ता अभोज्यता निवार्यते. अपरार्क-मर्यादसिन्धु-हेमाद्रिषु यम-मनू

''देवद्रोण्यां विवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च,

काकैः श्वभिश्च यत् स्पृष्टं तदन्नं न विवर्जयेत्,

तन्मात्रम् अन्नम् उद्धृत्य शेषं संस्कारमर्हति,

घनानां प्रोक्षणाच्छुद्धिः द्रवाणामपि तापनात्,

संस्पर्शनाद् भवेत् शुद्धिः अपामग्नेः घृतस्य च,

च्छागेन मुखसंस्पृष्टं शुचि त्वेवं विनिर्दिशेत्'' उद्ध.२८(वशि.स्मृ.१८)

इति. ''**देवद्रोणी देवयात्रा**'' इति अपरार्कः. देवतानैवेद्यार्थं यत्र बह्वन्नं पच्यते सा देवद्रोणीति मर्यादसिन्धुः. एतच्च बह्वन्नप्रदर्शनार्थम्. प्रकृतेषु इति उत्सवेषु इत्यपि सएव (मर्यादसिन्धुः) व्याचख्यौ.

२१. [1]अथ घृतपायसादीनां शुद्धिविचारः.

शातातपः

''घृतं च पायसं क्षीरं तथैवेक्षुरसो गुडः,

शूद्रभाण्डस्थितं तक्रं तथा मधु न दुष्यति''

(शंखस्मृ.१।५।अशुद्ध्यपवादः)

इति. पायसं पयोविकारो नतु पयसि सिद्ध ओदनः. ''विकारार्थे च तद्धितः'' इति कल्पतरुरत्नाकरपारिजातशुद्धिप्रदीपाः. एतदपि आधारदोषाभावे, तद्दोषेतु पात्रान्तरनयनम्,

''आधारदोषे तु नयेत् पात्रात् पात्रान्तरं द्रव्यम्,

घृतं च पायसं क्षीरं तथैवेक्षुरसो गुडः'' (शंखस्मृ.१।५।अशुद्ध्यपवादः)

इति शङ्खवाक्यात्. तथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे

''सन्धिन्यनिर्दशाऽवत्सागोपयः परिवर्जयेत्,

औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणम् आरण्यकमथाविकम्'' (याज्ञ.स्मृ.१।१७०)

इति याज्ञवल्क्येन सामान्यतः एतद् दुग्धं निषिद्धम्. तथापि हारीतेन

''सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेत्, ऋतुमद्भावात्. न हतवत्सायाः शोकाभिभूतत्वात्. न दुग्धाया विना वत्सात्. यथा अश्नतो अन्नम् आच्छिद्यात्मनाश्नीयाद् एवं तत्. न नवसूतायाः सरजस्त्वात्. सप्तरात्राद् इति एके दशरात्राद् इति अपरे मासेन अथ पीयूषं भवति इति धर्मविदः''

इति [2]हेतुपूर्वकम् उक्तम्. [3]तच्च श्राद्धहेमाद्रावेव व्याख्यातम्. 'वृषस्यन्ती'पदाद् निवृत्तमैथुनेच्छायाः पयो न निषिद्धम् इति गम्यते. हतवत्सा मृतवत्सा. तत्र शोकाभिभूतत्वाद् इति हेतुः. तेन विस्मृतवत्सशोकायाः पयसि न निषेधः. वत्सादिविना

इति जीवन्तमेव वत्सम् अन्यतो निधाय क्षीरलोभेन दुग्धायाः पयो न पिबेत्. तत्र दृष्टान्तः यथा अश्नतो भुञ्जानाद् अन्नं हठाद् गृहीत्वा स्वयम् अश्नीयाद् एवं तद् इति. न नवप्रसूतायाः, तत्र हेतुः सरजस्त्वाद् इति. तत्र सप्तरात्रादयः त्रयः पक्षाः. एतेषु पक्षेषु यथा रजोनिवृत्तेः व्यवस्था द्रष्टव्या इति. तेन यदा सप्तरात्रादावपि रजोनिवृत्तिनिश्चयः तदा पयःपाने न धर्महानिः इति तेन सन्धिन्याः पयो द्वितीयदिवसे शुद्धं मृतवत्सायास्तु पिण्याकभक्षणादिना विस्मृतवत्सशोकतया तन्मृतकानाघ्राणे शुद्धम्. नवसूतायास्तु निर्देशत्वे प्रायः इदानीं शुद्धिम् अङ्गीकुर्वन्ति नतु सप्तरात्रोत्तरम्. तदुत्तरं रजःसंसर्गपर्यन्तम् अशुद्धं नतु मासपूर्तिपर्यन्तम्. विनावत्ससन्दोहस्तु यावद् वत्सः तदाकांक्षते अन्यत् तृणादिकं चरित्वा न तृप्यति. तदुत्तरं वत्साय स्थापनेन तत्स्वत्वं निवार्य दोग्धव्यं तत्पयः शुद्धम् इति सिद्ध्यति. तथा स्यन्दिनीं यमसूं सन्धिनीम् इति गौतमस्मरणात् तत्पयोऽपि अशुद्धम्. तत्र हेतुं तु न केऽपि लिखन्ति. तथा स्यन्दिनीदुग्धस्य ग्रहणे दुग्धस्रवणेन स्तनानां रिक्ततया तत्पीडाप्रसङ्गः. यमसुवश्च ग्रहणे वत्सयोः बुभुक्षायाः अपूर्त्या तद्दुग्धस्य परस्वत्वं दोषः इति मम प्रतिभाति. दुग्धनिषेधतद्विकाराणामपि अशुद्धत्वम् इति मिताक्षरायाम्. गोमूत्रगोमययोः अनिषेध इति यद्यपि तत्र उक्तं तथापि यत्र रजस्त्वं सम्भाव्यते तत्रतु निषेधः इति मम प्रतिभाति. ब्रह्मपुराणे ''**द्राक्षेक्षूणां रसः शुद्धः सद्यस्तु प्रथमेऽहनि**'' इति तथा. यतौ च ब्रह्मचारिणि गतं भैक्षमपि तेषां शुचि. तदाह अपरार्के मनुः ''**ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यम् इति स्थितिः**'' (मनुस्मृ.५।१२९) इति. ब्रह्मचारीति विहितभिक्षोपलक्षकम्. भैक्षं भिक्षासमूहः. विहितभिक्षाधिकारिणोऽपि मनुनैव उक्ताः

''सान्तानिकं वक्ष्यमाणम् अध्वगं सर्ववेदसम्,
गुर्वर्थमातृपित्रर्थ–स्वाध्यायार्थोपतापिनः,
नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभैक्षकान्''

(मनुस्मृ.११।१,२)

इति. सान्तानिकः सन्तानप्रयोजनः. सर्ववेदसो दत्तसर्वस्वः. उपतापी रोगी. अन्ये प्रसिद्धाः. तथाच तेषां भैक्षं न दुष्यति इति अर्थः. यावतोपघातेन रथ्योपसर्पणादिना भैक्षं न सिद्ध्यति [४]तन्मात्रस्य अपवादो अयम्. अतएव तदतिरिक्तोपघाते शुद्धिम् आह वसिष्ठः

''प्रचरन्नभ्यवहार्येषु उच्छिष्टं यदि संस्पृशेत्,
भूमौ निधाय तद्द्रव्यम् आचान्तः प्रचरेत् पुनः'' (वशि.स्मृ.३।४२)

इति. यस्य उपघातस्य आचमनात् शुद्धिः तद् इह 'उच्छिष्ट'शब्देन उच्यते. अभ्यवहार्यशब्दाच्च न भैक्षमात्रविषयम् एतत् किन्तु परिवेषणादिविषयमपि. यत्तु मनुना उक्तम्

''उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन,
अनिधायैव तद्द्रव्यम् आचान्तः शुचितामियात्''

(मनुस्मृ. ५।१४३)

इति तद् वस्त्राद्यपरविषयम्. किञ्च ब्राह्मे

''उच्छिष्टेन तु शूद्रेण संस्पृष्टः परिवेषकः,
द्रव्यहस्तश्च यत्किंचिद् दद्यात् तत्तु न भक्षयेत्'' (ब्रह्म.पुरा.)

तेन उच्छिष्टशूद्रातिरिक्तस्पर्शे दोषो नास्ति इति [५]तदाशयः इति अपरार्कस्थं प्रमेयम् उक्तम्. सदाचारचन्द्रोदये तु वासिष्ठं मानवं च वाक्यम् उपन्यस्य उक्तम्.

''यदि द्रव्यम् अङ्गधारणयोग्यं तदा अङ्गे निधाय आचामेत्. यदि तदयोग्यं तदा तत्स्पृष्ट्वा आचामेत्. यद्वा आचमनार्होच्छिष्ट–स्पृष्टः अभ्यवहार्येतरद्रव्यं भूमौ अनिधाय आचम्य शुचिः भवति. अभ्यवहार्यद्रव्यं तु भूमौ निधाय आचम्य अभ्युक्ष्य गृह्णीयाद्'' (वशि.स्मृ.)

इति. एवं च अत्र पूर्वोक्तवचनद्वयेऽपि उच्छिष्टकर्मकोच्छिष्टकर्तृकस्पर्शदोषः पुरुषस्यैव तस्यैव शुद्धिविधानात्. नतु [६]तत्सम्बन्धेन द्रव्यस्यापि दुष्टत्वम्. पुनः प्रचारस्य अनिधानस्य च उक्तत्वाद् द्रव्यत्यागस्य अनुक्तत्वाच्च इति ग्रन्थद्वयस्यापि तात्पर्यम्. तेन अभ्यवहार्यस्य गृहान्तर–देशान्तर–प्रेषणेऽपि साक्षात्स्पर्शो न भवेत् चेद् अदोषएव, अमेध्याशुचिप्रभृतिस्पर्शे तु त्यागएव इति शिष्टाचारात् प्रतिभाति. विष्णुपुराणे **''सम्प्रोक्ष्य विद्वान् गृह्णीयात् शूद्रान्नं गृहमागतम्''** (विष्णु.पुरा.)इति गृहागमनलिङ्गाच्च. तेन अमेध्याशुचिस्पर्शएव त्यागो नतु अन्यथा इति निश्चयः. अन्यच्च सदाचारचन्द्रोदये, तत्र अङ्गिराः

''अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि,
कृत्वा मूत्रं पुरीषं च द्रव्यहस्तो न दुष्यति''. (अङ्गि.स्मृ.)

अत्र 'द्रव्य'पदम् अन्नस्यापि सङ्ग्राहकम्.

''शौचं तु कुर्यात् प्रथमं पादौ प्रक्षालयेत् ततः,
उपस्पृश्य तदभ्युक्ष्य गृहीतं शुचितामियात्'' ( )इति स्मृतेः.

हलायुधे हारीतः

''कृत्वा मूत्रपुरीषं च द्रव्यहस्तः कथञ्चन,
भूमावन्नं प्रतिष्ठाप्य कृत्वा शौचं यथाविधि,
तत्संयोगात् तु पक्वान्नम् उपस्पृश्य ततः शुचिः''

[उद्ध.२९](आप.स्मृ.९।३४,३५)

इति. पक्वान्नं घृतपक्वं पुरुषसंयोगाद् यथा [७]तद् अशुचिभूतं तथा तत्संयोगात् शुच्यपि इति अर्थः. **''प्रक्षाल्य पादौ निक्षिप्य आचम्याभ्युक्षणं पुनः, पुष्पादीनां तृणादीनां प्रोक्षणं हविषां तथा''** इति. **निक्षिप्य** इति द्रव्यं भूमौ निधाय.

मार्कण्डेयस्तु शौचमपि अनिधायैव कार्यम् इति आह.

''पक्वान्नेन गृहीतेन मूत्रोच्चारं करोति यः,
अनिधायैव तद्द्रव्यम् अङ्के कृत्वा समाश्रितम्,
शौचं कृत्वा यथान्यायम् उपस्पृश्य यथाविधि,
अन्नम् अभ्युक्षयेच्चैव उद्धृत्यार्कस्य दर्शयेत्,
त्यक्त्वा ग्रासमथैतस्मात् शेषं शुद्धिम् अवाप्नुयात्'' (मार्क.स्मृ.)

इति च तत्र उपन्यस्तम्. एवं च मूत्रोच्चारादावपि यत्र दोषाभावः तत्र कुतस्तराम् उच्छिष्टस्पर्शे. किञ्च पक्वान्नं घृपक्वम् इति यद् व्याख्यातं तदपि युक्तमेव. राहुदर्शने **''शृतमन्नं च वर्जयेद्''** इति. निषेधसत्वेऽपि

''आरनालं पयस्तक्रं दधि स्नेहाज्यपाचितम्,
मरिकस्थोदकं चैव न दुष्येद् राहुसूतके''

इति घृतपक्वस्यैव अदुष्टत्वकथनेन अन्यत्रापि तस्यैव अदुष्टताया युक्तत्वाद् इति [८]वायुपुराणे[पा.भे.३] चातुर्मास्यमाहात्म्ये.

किञ्च अपरार्के आपस्तम्बः

''अप्रयतोपहृतम् अन्नम् अप्रयतं नतु अभोज्यम् अप्रयते नतु शूद्रेण उपहतम् अभोज्यं यस्मिंश्च अन्ने केशः स्याद् अन्यद्वा अमेध्यैः अवमृष्टं कीटो वा अमेध्यसेवी मूषकलङ्गं[पा.भे.४] वा पदोपहतं सिचा वा शुना वा अपात्रेण वा दृष्टं सिचा वा उपहतं दास्या वा नक्तम् आहृतम्. भुञ्जानं वा यत्र शूद्र उपस्पृशेद् अनर्हद्भिः वा समानपंक्तौ भुञ्जानेषु वा यत्र अनुत्थाय उच्छिष्टं प्रयच्छेद् आचामेद् वा. कुत्सयित्वा यत्र अन्नं दद्युः मनुष्यैः अवघ्रातम् अन्यैर्वा अमेध्यैः'' (आप.स्मृ.)

इति. अप्रयतं नतु अभोज्यम् इति. तथा च आग्न्यधिश्रयण-प्रोक्षण-हिरण्यस्पर्श-च्छागमुखस्पर्शान्यतमेन प्रयतं कृत्वा भोज्यम्. अशुचिना शूद्रेण स्पृष्टन्तु अभोज्यम्. मूषकलङ्गम्[पा.भे.५] इति तत्पुरीषं पुच्छादिकं वा सिचेति वस्त्रेण उपहतं दृष्टम् इति

अन्वयः. अनर्हद्भिः वा इति उपस्पृष्टम् इति अध्याहारः. स्फुटम् अन्यत्. अत्र अप्रयतशूद्रस्पर्शे अभोज्यत्वस्य उक्तत्वात् प्रयतशूद्रस्पृष्टपक्वान्नस्य भोज्यत्वानुज्ञा यद्यपि लभ्यते तथापि शिष्टा भगवत्प्रसादस्यैव तादृशस्य भोज्यत्वम् आद्रियन्ते न इतरस्य इति प्रसादव्यतिरिक्तं न भोज्यं, कलौ शिष्टाचारस्य स्मृत्यपेक्षया प्राबल्याद् इति.

२२. अथ घृतपाचितादीनां भक्ष्याभक्ष्यविचारः.

''घृतपक्वं तैलपक्वं मिष्टान्नं शूद्रसंस्कृतम्,
अभक्ष्यं ब्राह्मणानां च शूद्रभ्रष्टं त्रिपीटकम्'' (बृ.वै.पुरा.)

इति ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे उक्तम्.

यत्तु सुमन्त्वङ्गिरसौ

''गौरसं चैव सक्तुंश्च तैलं पिण्याकमेव च,
अपूपान् भक्षयेत् शूद्राद् यच्चान्यत् पयसा कृतम्'' (आङ्गि.स्मृ.)

इति. पिण्याकं 'तिलकूटः' इति प्रसिद्धम्. पयसेति दुग्धेन.

हारीतः

''कन्दुपक्वं स्नेहपक्वं पायसं दधिसक्तवः,
[१]**एतान्यशूद्रान्नभुजो भोज्यानि मनुरब्रवीत्''** (हारि.स्मृ.) इति.

शंखः

[२]**''अपूपाः सक्तवो धानाः तक्रं दधि घृतं मधु,**
एतत् पण्येन भोक्तव्यं भाण्डलेपो न चेद् भवेत्''

(शंखस्मृ.१।४।आह्निकप्रकरणम्)

इति तद् आपद्विषयम्. अन्यथा शूद्रान्नभोजननिषेधकवाक्ये विरोधाद् नापणीयम् अन्नमश्नीयाद् इति शङ्ख लिखितवाक्यविरोधाच्च इति अपरार्कः. सदाचार-चन्द्रोदयस्तु एतानि वचांसि लिखित्वा शूद्रगोरसाद्यपि तद्गेहाद् अन्यत्र नीत्वा भोक्तव्यम्

''घृतं तैलं तथा क्षीरं गुडं तैलेन पाचितम्,
नीत्वा नदीतटे विप्रो भुञ्जीयात् शूद्रभोजनम्'' (परा.स्मृ.११।१४)

इति पराशरोक्तेः इति आह. कश्चित्तु अलवणं स्नेहपक्वं सच्छूद्रस्य भोज्यं तेन वचसाम् अविरोधः इति आह. निर्णयामृतस्तु उक्तशङ्ख वचनात् पक्वान्नानाम् अभक्ष्यत्वम् इति आह. दिनकरोद्योते तु

''शूद्रेषु दासगोपाल–कुलमित्रार्धसीरिणाम्,
भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थयात्रातिदूरत:''

इति कलिवर्ज्येषु गणनात् कलावेव निषेध:. सोऽपि गृहस्थस्यैव न यति–ब्रह्मचारिणो:. अयं च पाकस्यैव निषेध:. ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादिक्रिया [३]तथा इति कलिवर्ज्येषु पाकस्य च गणनाद् इति उक्तम्. तेन एतन्मते कलौ [पा.भे.६]शूद्रेण पाचितम् अन्नं गृहस्थेन ब्राह्मणादिना न भोक्तव्यम्. ब्राह्मणादिद्वारा पाचितं तु भोक्तव्यम्. ब्रह्मचार्यादिभिस्तु तेन पाचितमपि भोज्यम् इति आयाति. ममतु अन्यत् प्रतिभाति. देवलेन

''स्वदासो नापितो गोप: कुम्भकार: कृषीवल:,
ब्राह्मणैरपि भोज्यान्ना: पञ्चैते शूद्रयोनय:'' इति.

(देव.स्मृ.५[आह्निकं]।६८६)

याज्ञवल्क्येन च

''शूद्रेषु दासगोपाल–कुलमित्रार्धसीरिण:,
भोज्यन्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत्''इति.

(याज्ञ.स्मृ.१।१६६)

हारीतेन च

''कुलं मित्रं कुलपुत्रो भैक्षद: शिष्यक: सुहृत्,
भवेद् अस्य सुखं लाभे भयत्राता च यो भवेत्,
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना मनो यत्र विभाव्यते'' (हारि.स्मृ.)

इति अपरार्के अनेकेषां भोज्यान्नताकथनात्. कलिवर्ज्येषु तु दासादीनां चतुर्णामेव गणितत्वात् तदितरेषाम् उक्तानां शूद्राणां भोज्यान्नता यद्यपि प्राप्यते तथापि **''अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेद् न तु''** इति निषेधान्तरात् तत्पक्वान्नभोजनं न कार्यम्. किञ्च एतेषु वाक्येषु 'अन्न'पदात् पक्वम् अन्नमेव न भोज्यम्, पयोविकार ऐक्षवं फलादिकं तु भोज्यम् इति. अतएव मनुरपि

''नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वान् अश्नाद्धि नो द्विज:,
आददीतान्नमेवास्माद् अवृत्तावेकरात्रिकम्'' (मनुस्मृ.४।२२३)

इत्येव आह. किञ्च

''यथा जलं निर्गमनेष्वपेयं नदीगतं तत्पुनरेव पेयम्,
तथान्नपानं विधिपूर्वमागतं द्विजादिपात्रान्तरितं न दुष्यति''( )

इति अपरार्के स्मृत्यन्तरम्. सदाचारचन्द्रोदये च.

''यथा यतस्ततोऽप्याप: शुद्धिं यान्ति नदीगता:,

शूद्रात् विप्रगृहेष्वन्नं प्रविष्टं तु तथा शुचि'' इति.

स्मृत्यन्तरं तथा तत्रैव

''तावद् भवति शूद्रान्नं यावद् न स्पृशति द्विजः,
द्विजाग्र्यकरसंस्पृष्टं सर्वं तद् हविरुच्यते''

इति पराशरवाक्यं च. तेन यच्छूद्रस्य अन्नं तद् गृहे ब्राह्मणेन पाचितं ब्राह्मणेन शुचिप्रकारेण आनीय द्विजपात्रे स्थापितं चेत् तदा न दुष्यति. तथा सक्तवो धानाश्च शूद्रपक्वाअपि लोकविद्विष्टत्वाभावाद् न दुष्यन्ति. तथा अभोज्यान्नानां गृहेऽपि ततः आमं गृहीत्वा ब्राह्मणः स्वीयपात्रेण पक्त्वा भुङ्क्ते चेत् तदापि न दोषः.

सच्छूद्रलक्षणं तु सदाचारचन्दोदये बृहत्पराशरेण उक्तम्

''विशुद्धान्वयसञ्जातो निवृत्तो मद्यमांसयोः,
द्विजभक्तिर्वणिग्वृत्तिः सच्छूद्रः परिकीर्तितः'' (परा.स्मृ.६।३१३)इति.

आत्मनिवेदिगेहे स्वयंपचने तु सुतरां न दोषः. निवेदनोत्तरं तत्र तावन्मात्रे स्वत्वोत्पत्तेः इति.

२३. अथ उदकशुद्धिविचारः.

तत्र मनुः

''आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यत्र गोर्भवेत्,
अव्याप्ताश्चेद् अमेध्येन गन्धवर्णसमन्विताः'' इति.

(मनुस्मृ. ५।१२८)

एवं शिलागतमपि

''भूमिष्ठम् उदकं शुद्धं वैतृष्ण्यं यत्र गोर्भवेत्,
अव्याप्तं चेद् अमेध्येन तद्वदेव शिलागतम्'' (विष्णु.स्मृ.)

इति विष्णुवाक्यात्.

तथा नद्यादिभ्यः शुद्धपात्रोद्धृता अपि

''उद्धृता वा प्रशस्ताः स्युः शुद्धैः पात्रैर्यथाविधि,
एकरात्रोषितास्तास्तु (द्वितीयार्थे प्रथमा) **त्यजेद् आपः समुद्धृताः''** (देव.स्मृ.९)

इति पूर्वोक्तधर्मानुवृतौ देवलवाक्यात्. आपः इति विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः. अत्र ताः इति सर्वनाम्ना गोतृप्तिमात्रपर्याप्ता अल्पाएव परामृश्यन्ते. अतो बहूदकात्

तडागादेः उद्धृतानां रात्र्युषितानां न दोषः इति पारिजातः. एतदपि अनुषितोदकासम्भवे. अत्र पर्युषितजलवर्जनं तीर्थोदकव्यतिरिक्तविषयम्. ''**तीर्थतोयं न दुष्येत करकादिस्थितं सदा**'' इति मर्यादसिन्धौ वचनात्. एवं चरणामृतेऽपि तीर्थत्वाद् बोध्यम्. तथा अपरार्के देवलः.

''**अक्षोभ्यानामपां नास्ति प्रसृतानां च दूषणम्,**
स्तोकानाम् उद्धृतानां च कश्मलैर्दूषणं भवेत्,
अक्षोभ्यानि तडागानि नदी वाप्यः सरांसि च,
कश्मलाशुचिसंस्पर्शे तीर्थतः परिवर्जयेत्'' (देव. स्मृ. ९)

इति. अत्र अमेध्ययुक्तः प्रदेशः तीर्थम्. क्वचित् तु चाण्डालाद्यशुचिस्पृष्टः इति पाठः. तदा तीर्थम् अवतरणमार्गः. गन्धाद्ययुक्ताः शुद्धा इति अनुवृत्तौ पैठीनसिः विपर्यस्तं महोदकमपि वर्ज्यम् इति आह. उद्धृतेषु तु विशेषं यम आह.

''**प्रपामरण्ये घटगं च कूपे द्रोण्यां जलं कोशगतास्तथापः,**
ऋतेऽपि शूद्रात् तदपेयमाहुः आपद्गतो भूमिगताः पिबेत्तु''

इति. प्रपा जलसत्रशाला. घटगं घटस्थं. घटकम् इति जलोद्धरणार्थं स्थापितः सर्वसाधारणो घटः. द्रोणी अश्मादिमयी सर्वार्था जलपात्री, काष्ठाम्बुवाहिनी वा. कोशो दृतिः. द्विजातिपतिकमपि अरण्यगतमपि प्रपादिगतं जलं शूद्रव्यतिरिक्तैः अपेयम्. आपदि तु शुद्धभूमौ क्षिप्तं पेयम् इति वाक्यार्थः. तादृशस्य भूगतस्यापि क्वचिद् अपवादम् आह मर्यादासिन्धौ हारीतः. भूगाः पुण्या अपो[पा.भे.७] अशुभागमनवर्जं यदि तदरण्ये गतं प्रपादि स्यादिति अरण्यप्रपादिजलं शुद्धभूगतमपि अशुभागमने सति वर्ज्यम् इति अर्थः.

२४. [१]अथ जलाशयशुद्धिविचारः.

देवलः

''**श्वशृगालखरोष्ट्रैश्च क्रव्याद्भिश्च जुगुप्सितम्,**
उद्धरेद् उदकं सर्वं पञ्च पिण्डान् मृदस्तथा'' इति.
(देव.स्मृ.९।जलशुद्धिः)

ब्राह्मे च

''**येषाम् अभक्ष्यं मांसं च तच्छरीरैर्युतं च यत्,**
वापीकूपतडागेषु जलं सर्वं हि दुष्यति'' (देव.स्मृ.९।जलशुद्धिः)

शरीरैः मृतशरीरैः.

''सकर्दमं सकुणपं तेभ्यस्तोयम् अपास्य तत्,
प्रक्षिपेत् पञ्चगव्यं च समन्त्रं सर्वशुद्धिकृत्,
अपास्य कुणपं तेभ्यो बहुतोयेभ्यएव च,
शतं षष्ट्यथवा त्रिंशत् तोयकुम्भान् समुद्धरेत्,
पञ्चगव्यं ततस्तेषु प्रक्षिपेत् मन्त्रसंयुतम्'' इति.

(देव.स्मृ.९।जलशुद्धिः)

वापी सोपानयुक्तो जलाशयविशेषः.

जमदग्निः.

''वापीकूपतडागेषु स्वल्पेषु स्थावरेषु च,
स्थूलसूक्ष्मप्राणिशवे क्लिन्ने जीर्णे च तज्जलम्,
सर्वम् उद्धृत्य सूत्खातं पञ्चगव्यं ततः क्षिपेत्,
पाषाणैरिष्टकाभिर्वा दहेत् तत्स्थानमेव तु,
सरबद्धे तु सम्प्रोक्ष्य विप्राशीर्वचनं तथा,
बहूदके तु दुष्टेऽस्मात् कलशान् षष्टिमुद्धरेत्,
सूक्ष्मास्थिप्राणिभिर्दुष्टे त्रिंशत् कुम्भांस्तथोद्धरेत्''. (जम.स्मृ.)

कूपविषये विष्णुः

''मृतपञ्चनखात् कूपाद् अत्यन्तोपहतात् तथा,
अपः समुद्धरेत् सर्वाः शेषं शस्त्रेण शोधयेत्'' (विष्णुस्मृ.)

शस्त्रेण कुद्दालादिना.

''वह्निप्रज्वालनं कृत्वा कूपे पक्वेष्टकाचिते,
पञ्चगव्यं न्यसेत् पश्चात् नवतोयसमुद्भवे,
जलाशये तथाल्पेषु स्थावरेषु वसुन्धरे,
कूपवत् कथिता शुद्धिः महत्सु च न दूषणम्''.

स्थावरेषु प्रवाहहीनेषु. वसुन्धरे वसुन्धरायाम् इति अर्थः. क्वचित्तु 'महीतले' इति पाठः.

आपस्तम्बः

''उपानच्छ्लेष्मविण्मूत्र–स्त्रीरजोऽमेध्यमेव च,

एभिश्च दूषिते कूपे कुम्भानां षष्टिमुद्धरेत्'' (आप.स्मृ)

बृहस्पतिः

''अस्थिचर्मविनिर्मुक्तैः दूषितैः श्वखरादिभिः,
उद्धृत्य तज्जलं सर्वं शोधनं परिमार्जनम्,
वापीकूपतडागेषु दूषितेषु विशोधनम्,
घटानां शतमुद्धृत्य पञ्चगव्यं ततः क्षिपेत्'' उद्ध.२९ (अत्रिस्मृ.२२७,२६).

परिमार्जनम् अपद्रव्यनिरसनम्. **अस्थिचर्मविनिर्मुक्तैः** चिरवासेन विशीर्णैः इति अर्थः. अत्र इयं व्यवस्था. सर्वजलोद्धरणं तु स्वल्पतोये. एकस्मिन्नेव उपघाते यल्लघुगुरुशोधनं [२]तद् दूष्याऽनल्पत्वाल्पत्वापेक्षया[पा.भे.८] दूषकलघुत्वगुरुत्वापेक्षया च. अत्यन्तमहत्सु च उपघाते तदुपघातकयुक्तदेशातिरिक्तदेशे दोषाभावएव. कुम्भानां तु स्वल्पमध्याधिकोद्धरणं तदपि तोयतारतम्यापेक्षया इति. तेन बहुजले कूपे यदि मूषकादिसूक्ष्मप्राणिशवस्य जलदौर्गन्ध्यादिना सन्देहः तदा उक्तजमदग्निवाक्यात् त्रिंशदादिकुम्भजलोद्धरणात् पूर्वं तेन जलेन स्नानसन्ध्यादिकरणेऽपि निश्चयात्मक-ज्ञानाभावाद् न पापापत्तिः. ज्ञानोत्तरं तु उद्धरणकुम्भस्य मार्तिकत्वे त्यागो धातवीयत्वे अग्निज्वालादिसंस्पर्शो अम्लादिभिः मार्जनं च इति मे भाति.

अथ बृहस्पतिः.

''उच्छिष्टं मलिनं क्लिन्नं यच्च विष्ठानुलेपितम्,
अद्भिः शुद्ध्यति तत्सर्वम् अपां शुद्धिः कथं भवेत्,
सूर्येन्दुरश्मिपातेन मारुतस्पर्शनेन च,
गवां मूत्रपुरीषेण शुद्ध्यन्त्याप इति स्थितिः''. (बृह.स्मृ.)

यमः

''अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मण्यश्च प्रसूतिकाः,
दशरात्रेण शुद्ध्यन्ति भूमिष्ठं च नवोदकम्''

(देव.स्मृ.९।तैजसादिद्रव्यशुद्धिः).

अत्र 'भूमिष्ठ'पदम् अन्तरिक्षजलव्यावृत्त्यर्थम्.

बृहत्पराशरः

''वन्दत्यपां पवित्रत्वं दिवार्करश्मिवायुभिः,
मुनयो धर्मवेत्तारो रात्रौ चन्द्रांशुमारुतैः'' (वृ.परा.स्मृ.८।२६३) इति.

म्लेच्छादिखातजलविषये आपस्तम्बः

‘‘म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा,
जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयम् अधस्ताद् अशुचि स्मृतम्,
तत्तोयं यः पिबेद् विप्रः कामतोऽकामतोऽपि वा,
अकामाद् नक्तभोजी स्याद् अहोरात्रं तु कामतः’’ (आप.स्मृ.   )

इति मर्यादसिन्धूक्ता उदकशुद्धिः.

२५. अथ भूशुद्धिविचारः.

तत्र मर्यादासिन्धौ अपरार्के च देवलः

‘‘पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्या विशुद्ध्यति,
दुष्टा द्विधा त्रिधा वापि शुद्ध्यते मलिनैकधा’’

(देव.स्मृ.९।भूमिशुद्धिः).

अशुद्धा भूमिः अमेध्य–दुष्ट–मलिनभेदेन त्रिधा. तत्र अमेध्यां तच्छुद्धिं च आह सएव

‘‘प्रसूते गर्भिणी यत्र म्रियते यत्र मानुषः,
चण्डालैरुषितं यत्र–यत्र विन्यस्यते शवः,
विण्मूत्रोपहतं यत्र कुणपो यत्र दृश्यते,
एवं कश्मलभूयिष्ठा भूरमेध्येति लक्ष्यते,
दहनं खननं भूमेरुपलेपनवापने,
पर्जन्यवर्षणं चेति शौचं पञ्चविधं स्मृतम्’’ इति.

(देव.स्मृ.९।भूमिशुद्धिः)

अपरार्के तु ‘वापन’स्थाने ‘धावनं’ पठितम्. दहनं तृणकाष्ठादिप्रक्षेपेण ज्वालनम्. खननं तक्षणं शस्त्रादिना उल्लेखनं वा. उपलेपनं गोमूत्रभस्मगोमयादिना. वापनं मृदन्तरेण पूरणम्. एतन्मध्ये पञ्चभिः चतुर्भिः वा अमेध्या भूः शुद्धा भवति. दुष्टां मलिनां च सएव आह

‘‘कृमिकीटपदक्षेपैः दूषिता यत्र मेदिनी,
द्रप्सापकर्षणोच्छिष्टैः घातैर्वा दुष्टतां व्रजेत्,
नखदन्ततनूजत्वक्–तुषपांसुरजोमलैः,
भस्मपङ्कतृणैर्वापि सम्पन्ना मलिना भवेत्’’ इति.

अपरार्के मिताक्षरायां च

''श्वसूकरखरोष्ट्राद्यैः संस्पृष्टा दुष्टतां व्रजेत्,

अङ्गारतुषकेशास्थि–भस्माद्यैः मलिना भवेत्''

इति पाठः. पूर्वपाठे 'द्रप्सा'पदेन घनीभूतः श्लेष्मा उच्यते. तत्र दुष्टाया दहनादित्रयेण द्वयेन वा शुद्धिः. अत्र अपरार्के विकल्पो व्यवस्थापितः. तत्र श्मशानभुवः पञ्चभिः शुद्धिः. तदन्यस्या अमेध्याया वर्षणवर्जितैः चतुर्भिः. चिरकालं दुष्टाया दहन–खननोपलेपनैः त्रिभिः. अचिरकालं दुष्टाया उल्लेखनदाहाभ्याम्. चिरं मलिनाया उल्लेखनेनैव इति. विज्ञानेश्वरस्तु मार्जनानुलेपनयोः सर्वत्र समुच्चयम् आह. एवम्, अचिरं मलिनाया उपलेपनेन धावनेन वर्षणेन वा इति बोध्यम्.

यमस्तु

''खननात् पूरणाद् दाहाद् अभिवर्षणलेपनात्,

गोभिराक्रमणात् कालाद् भूमिः शुद्ध्यति सप्तधा''(यम.स्मृ.)

इति आह. याज्ञवल्क्योऽपि

''भूशुद्धिः मार्जनाद् दाहात् कालाद् गोक्रमणात् तथा,

सेकाद् उल्लेखनात् लेपाद् गृहं मार्जनलेपनात्'' इति.

(याज्ञ.स्मृ.१।१८८)

मनुस्तु

''सम्मार्जनेनाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च,

गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः'' (मनुस्मृ.५।१२४).

सम्मार्जनम् अवकारापनयनम्. अञ्जनं गोमयोपलेपनम्. सेको जलेन प्रक्षालनं वर्षणं वा. उल्लेखनं कश्मलापनयनहेतुः तक्षणम्. गवां परिवास एकाहमात्रं गोष्ठीकरणम्. अत्र सेकगोवासयोः निर्लेपविषयत्वम् अन्येषाम् अमेध्यालिप्तविषयत्वम् इति मर्यादासिन्धुः. मेधातिथिस्तु, मूत्रपरीषादिलेपे उल्लेखन–मार्जने. सेको नदीपुलिन–वनादिषु. आवपनन्तु अस्थ्याद्युद्धृत्य मृदन्तरप्रक्षेपः. श्मशानादिभुवस्तु सर्वं कर्तव्यम् इति आह. बौधायनस्तु अत्र विशेषम् आह. घनाया भूमेः उपघाते उपलेपनम्. सुषिरायाः कर्षणम्. क्लिन्नाया अमेध्यम् आहृत्य प्रच्छादनम्. ऊर्ध्वं शवोपघाते भित्तितक्षणम्. सूर्यरश्मिप्रवेशो अग्निज्वालाभिमर्शनम्. चतुर्भिः शोध्यते भूमिः गोभिराक्रमणात् खननाद् दहनाद् अभिवर्षणात् पञ्चमाच्च उपलेपनात् षष्ठात् कालाद् इति. घना निबिडावयवा. सुषिरा सच्छिद्रा. क्लिन्ना अमेध्यार्द्रा. अत्र घनाया इत्यादौ सर्वत्र उपघातः इति अस्य सम्बन्धः. अमेध्यम् आहृत्य इति. अमेध्यम् उद्धृत्य शुद्धमृदादिना प्रदेशपूरणम्. कालो अत्र लेपादिक्षयहेतुः तस्मात् यमः

''अरथ्या वसुधा मेध्या ग्राममध्ये क्वचित्–क्वचित्,

सर्वत्र वसुधा मेध्या यत्र लेपो न दृश्यते'' (यमस्मृ.) इति.

ब्राह्मे तु

''ग्रामाद् दण्डशतं त्यक्त्वा नगराच्च चतुर्गुणम्,
भूमिः सर्वत्र शुद्धा स्याद् यत्र लेपो न दृश्यते'' (ब्रह्म.)

इति विशेषः उक्तः.

भविष्यपुराणे

''वापयेद् यत्र नीली तु तावती त्वशुचिर्मही,
प्रमाणं द्वादशाब्दानि तत ऊर्ध्वं शुचिर् भवेत्'' (भवि.पुरा.)इति.

यमः

''ब्राह्मणावसथे भूमिर् देवागारे तथैव च,
मेध्या चैव सदा मन्ये गवां गोष्ठे तथैव च'' (यम.स्मृ.)

इति. सदा इति गोमयाद्युपलेपाभावेऽपि इति अर्थः. एतच्च अनुपहत–भूमिविषयम्. बौधायनः **''अनेकपुरुषोद्धार्ये दारुशिले भूमिसमे इष्टकाश्च सङ्कीर्णीभूता''** (बौधा.स्मृ.)इति. भूमिसमे इति भूशुद्धिसमानशुद्धिः. सङ्कीर्णभूता इति सुधादिना मिथः सम्बद्धाः. प्रतिलोमजबद्धाअपि न अशुद्धा इति मर्यादासिन्धुः. एतेषां चण्डालादिस्पर्शे भूशुद्धिवदेव शुद्धिः कार्या इति अपरार्कः.

२६. अथ गृहशुद्धिविचारः.

तत्र मर्यादासिन्धौ मनुः **''मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म''** इति अत्र शुद्ध्यति इति अनुषङ्गः. मार्जनं मार्जन्या मृत्तृणकाष्ठाद्यपनयनं, गृहस्य धूमान्धकाराद्यपनयनं च. उपाञ्जनं सुधागोमयादिभिः भूमिभित्तिविलेपनम्. एतच्च शवचाण्डालादिभिः भित्तिस्पर्शे व्यापिनि द्रष्टव्यम्. अव्याप्तौ तु तावन्मात्रमपि. याज्ञवल्क्येन तु भूशुद्धिम् उपक्रम्य तत्रैव तस्मिन्नेव श्लोके **''गृहं मार्जनलेपनाद्''** इति पुनः मार्जनं लेपनं च उक्तं तद् गृहस्य प्रत्यहं मार्जनलेपनप्राप्त्यर्थं वेदितव्यम्.

शवदूषिते तु संवर्तः

''गृहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि अन्तःस्थशवदूषिते,
प्रोत्सृज्य मृण्मयं भाण्डं सिद्धिम् अन्नं तथैव च,
गृहादपास्य तत्सर्वं गोमयेनोपलेपयेत्,

गोमयेनोपलिप्याथ छागेनाक्रामयेद् बुधः,
ब्राह्मणैः मन्त्रपूतैश्च हिरण्यकुशवारिणा,
सर्वम् अभ्युक्षयेद् वेश्म ततः शुद्ध्यत्यसंशयम्'' इति.

अन्त्यादीनां गृहमरणे बृहद्यमः

''**श्वशूद्रपतितेऽन्त्ये च मृते मासचतुष्टयम्,**
अत्यन्ते वर्जयेद् गेहम् इत्येवं मनुरब्रवीत्''

इति. **अन्त्यो** म्लेच्छः. **अत्यन्तः** चण्डालः इति मर्यादासिन्धुः. सएव

''**द्विजस्य मरणे वेश्म संशुद्ध्येत्तु दिनत्रयात्,**
दिनैकेन बहिर्भूमिर् अग्निप्रोक्षणलेपनैः''

इति. अत्र यथोक्तशोधनानन्तरमपि मन्त्रप्रोक्षणं कार्यं प्रागुक्तसंवर्तोक्तेः. चण्डालादेः गृहे वासे लघुपराशरः

''**अविज्ञातस्तु चण्डालो निवसेद् यस्य वेश्मनि,**
विज्ञाते चोपसन्नस्य द्विजाः कुर्युरनुग्रहम्'' (परा.स्मृ.६।३२)

इति उपक्रम्य

''**आकारे तु भवेच्छुद्धिरारकूटे सकांस्यके,**
जलशौचं तु वस्त्राणां परित्यागस्तु मृण्मये, (३७)
कुसुम्भगुडकार्पास–लवणं दधिसर्पिषी,
द्वारि कृत्वा तु धान्यानि गृहे दद्याद् हुताशनम्, (३८)
ज्वालास्पृष्टं तु तत्सर्वं शुचि तन् मनुरब्रवीत्,(?)
रजकी चर्मकारी च लुब्धकी वेणुपुष्कसी,
चातुर्वर्ण्यगृहेष्वेवम् अज्ञाता यदि तिष्ठति, (४१)
ज्ञात्वा तु निष्कृतिं कुर्यात् पूर्वोक्तस्यार्धमेव च,
गृहदाहं न कुर्वीत शेषं सर्वं तु कारयेत्, (४२)
गृहस्याभ्यन्तरं गच्छेत् चाण्डालो यस्य कस्यचित्,
तस्माद् गेहाद् विनिःसृत्य भाण्डान्यपि च वर्जयेत्,(४३)
रसपूर्णं तु यद् भाण्डं न त्यजेत्तु कदाचन,
गोमयोदकलेपेन प्रोक्षयेत् तद्गृहं तथा'' (परा.स्मृ.६।३७–४४)

इति. उपसन्नस्य इति प्रायश्चित्तार्थं कृतपर्षदुपस्थानस्य. आकार इति द्रवीकृत्य पुनराकारकारणम्[पा.भे.९]. आरकूट इति. पित्तले हुताशनदानस्यैव व्याख्यानं ज्वालास्पृष्टं कृत्वा इति. इयं शुद्धिः चातुर्वर्ण्यस्य तुल्या, अग्रिमश्लोके तथावक्ष्यमाणत्वात्. निष्कृतिस्तु

प्रायश्चित्तप्रकरणाभावाद् इह न लिख्यते. स्मृतिं दृष्ट्वा ज्ञेया. रसाश्च गुडलवणादयो नतु दधिपयस्तक्रादय:. तेषां त्याज्यत्वात्. तद् आह च्यवन:

''चाण्डालसङ्करे स्वभवनदहनं पावनम्. सर्वमृद्भाण्ड–भेदनम्. दारवाणां तु तक्षणं, शंखशुक्तिरजतचैलानाम् अद्भि: प्रक्षालनम्. कांस्यताम्राणाम् आकारे शुद्धि:. सौवीरपयोदधि–तक्राणां परित्याग:. शेषरसद्रव्यरक्षणम्'' इति.

मरीचिरपि

''गृहेष्वजातिसंवेशे शुद्धि: स्याद् उपलेपनात्,
संवासो यदि जायेत दाहतापैर्विनिर्दिशेत्'' (मरी.स्मृ.   ) इति.

''धान्यानि सर्वबीजानि गुडादिरस एव च,
कुसुम्भकार्पासमथो शुद्ध्येद् वार्यग्निशोधनात्''

इति. अजातिश्चाण्डालादि:. संवेश: प्रवेश:, शयनम् इति केचित्. संवास: चिरकालावस्थानम्. वार्यग्निशोधनं वारिणाभ्युक्षणम् अग्निना पर्यग्निकरणम् इति अपरार्क:. एवञ्च गृहे देवालयादौ वा यदि दुष्टै: पश्वादि: मार्यते उष्यते वा तदा कश्मलभूशुद्धिं पञ्चविधां चतुर्विधां वा विधाय पावमानीप्रभृतिभि: हिरण्यकुशवारिणा गोमूत्रादिभिश्च प्रोक्ष्य यथाशक्तिब्राह्मणभोजनं चाण्डालसंवासे पराशरोक्तं त्रिंशद्गावो वृषं च एकं तेभ्यो दत्वा पुनर्वासं देवायतनं च कुर्याद् इति प्रतिभाति.

२७. अथ रथ्यादिशुद्धिविचार:.

पराशर:

''रथ्याकर्दमतोयानि नाव पन्थास्तृणानि च,
मारुतार्केण शुद्ध्यन्ति निशि चन्द्रर्क्षमारुतै:''(बृ.परा.स्मृ.८।३३९)इति.

याज्ञवल्क्य:

''रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसै:,
मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च'' (याज्ञ.स्मृ.१।१९७)

इति. अत्र बहुवचनं तद्गतगोमयशर्करादिप्राप्त्यर्थम्. पक्वेष्टकचितानि धवलगृहादीनि चण्डालादिस्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्तीति कथनं पूर्वविहितस्य संहतप्रोक्षणस्य निवृत्त्यर्थम्. तृणकाष्ठपर्णमयानां तु प्रोक्षणमेव इति विज्ञानेश्वर:. एवं च **''अरथ्या वसुधा मेध्या''** इति पूर्वोक्तयमवाक्यस्य भोजनादौ रथ्याया अमेध्यता–बोधकत्वात् न विरोध:.

२८. अथ प्रकीर्णशुद्धिविचार:.

तत्र मर्यादासिन्धौ शंख:

''नारीणां चैव वत्सानां शकुनीनां शुनां मुखम्,

रतौ प्रस्रवणे वृक्षे मृगयायां सदा शुचिः'' (शंखस्मृ.१।शुद्धिप्रकरणम्)

इति. अत्र सर्वत्र लालासंसर्गकृतदोषापवादः. तत्रापि वत्सस्थले **''गावो मेध्या मुखादृते''** इत्यस्यापि अपवाद:. 'वत्स'पदं बालस्य उपलक्षणार्थम्. **''बालैरनुपरिक्रान्तं नित्यं मेध्यमिति स्थिति:''** इति वचनाद् इति विज्ञानेश्वर:. **शकुनि:** काकादि-विड्भुगतिरिक्तः इति मेधातिथि:. मनु-विष्णू:

''नित्यं शुद्ध: कारुहस्त: पण्यं यच्च प्रसारितम्,

ब्रह्मचारिगतं भैक्षम् आकरा: सर्वएव हि''

इति. अत्र हस्तो अमेध्यानुपहतो ज्ञेय:. प्रसारितम् इति नानाक्रेतृसंस्पर्शोपघात-दोषनिरासार्थम्. एतेन गृहस्य व्यावृत्ति:. शेषं प्रागेव व्याख्यातम्.

बौधायन:

''अदुष्टा संततं धारा वातोद्भूताश्च रेणव:'' (देव.स्मृ.९।११) इति.

यम:

''गौरश्वोविप्रुषश्छाया मक्षिका: शलभा: शुका:,

अजो हस्ती रणे छत्रं रश्मयश्चन्द्रसूर्ययो:,

भूमिरग्नी रजो वायुरापो दधि घृतं पय:,

सर्वाण्येतानि शुद्धानि स्पर्शे मेध्यानि सर्वश:'' (यमस्मृ.)

इति. यतः एतानि सर्वदा शुद्धानि ततो अशुचिस्पर्शेऽपि मेध्यानि इति अर्थ:. अत्र गोप्रभृतीनां स्पर्शे शुचित्वेऽपि याज्ञवल्क्येन **''अजाश्वं मुखतो मेध्यं न गौर् न नरजा मला:''** (याज्ञ.स्मृ.१।१९४) इति विशेषकथनात् तयोः मुखं विशेषेण शुद्धम् इति पात्रादीनां तत्स्पर्शेन शुद्धौ उपयुज्यते. विप्रुषां शुचित्वं नखाग्रादिच्युतव्यतिरिक्तविषयम्. लिङ्गपुराणे

''नखाग्रकेशनिर्धूत-स्नानवस्त्रदशोदकम्,

अश्रीकरम् अपुण्यं च अशुद्धं संस्पृशेद् यद्यदि'' (लिङ्गपुरा.)

इति तत्स्पर्शे दोषकथनाद् इति मर्यादसिन्धु:. विप्रुषः सूक्ष्मा जलकणाः तासां शुचिजलप्रभवानामपि चण्डालाद्यङ्गसङ्गिनां वायुना नीयमानानाम् अशुचित्वशङ्कायां पा.भे.१०शुचित्वे विधिः अयम् इति अपरार्क:. यत्तु याज्ञवल्क्य: **''मुखजा विप्रुषो मेध्याः तथाऽऽचमनबिन्दव:''** (याज्ञ.स्मृ.१।१९५) इति प्राह तत्र विशेष:.

''न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेद् अङ्गे निपतन्ति''

इति वसिष्ठवाक्यात्.

''स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्,
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत्'' (मनु.स्मृ.५।१४२)

इति मनुवाक्याच्च बोध्यः. एवं च अङ्गवद् भगवद्भोगसामग्र्यादौ तत्तत्पातेऽपि अशुचित्वं बोध्यम्. सर्वत्र जगन्नाथादिमहास्थलेषु पाकादिसेवाकर्तृणां मुखप्रावरणबन्धन-शिष्टाचाराद् इति.

छायायाः शुचित्वं चाण्डालादिच्छायाव्यतिरिक्तविषयम्.

''चाण्डालपतित-च्छायां स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत्''

इति स्मृत्यन्तरे.

''यदि छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति,
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति''

इति अङ्गिरो वाक्ये.

''दीपमञ्चकयोश्छाया बोधिच्छाया तथा निशि,
तथा नीचजनच्छाया हन्ति पुण्यं पुराकृतम्''

इति स्मृत्यन्तरे च तासां दुष्टत्वकथनात्. एवं च वितानशिबिरादिच्छायासु दोषाभावात् तत्र भोजनादिकरणे दोषाभावः.

यत्तु, **''चण्डालपतितच्छाया स्पर्शे दुष्टा तु नो भवेत्''** इति ब्राह्मं तत्तु अकामतः स्पर्शविषयं चतुर्युगादिपरिमाणाधिकच्छायाविषयं च इति न विरोधः. अग्निश्चण्डाल-शवाग्न्यादिव्यतिरिक्तः. एवं भूमिरापो दध्यादि च. रजोपि अजादिव्यतिरिक्तम्. तद् आह शातातपः

''रेणवः शुचयः सर्वे वायुना समुदीरिताः,
अन्यत्र रासभाजाविश्वसमूहनिवाससाम्'' (शाता.स्मृ.)

इति. समूहनी सम्मार्जनी. एतच्च रेण्वन्तरस्यापि उपलक्षणम्.

''श्वकाकोष्ट्रखरोलूक-सूकरग्राम्यपक्षिणाम्,
अजाविरेणुसंस्पर्शाद् आयुर्लक्ष्मीश्च हीयते''

इति मिताक्षरायां स्मृत्यन्तरात्. तत्स्पर्शे सम्मार्जनं कार्यम् इति विज्ञानेश्वरः. पवित्रास्तु रेणवो मर्यादासिन्धौ गारुडे उक्ताः

''गजाश्वरथधान्यानां गवां चैव रजः शुभम्''.

तथा

''गवां रजो धान्यरजः पुत्रस्याङ्गभवं रजः,

एतद्रजो महाशस्तं महापातकनाशनम्''

इति. धूमोऽपि शुद्धः. ''**धूमाग्निरजांसि वाय्वीरितानि शुद्धानि**'' इति अपरार्के शंखवाक्यात्. मक्षिकाग्रहणम् अवर्जनीयस्पर्शानां दंशमशकपिपीलिकादीनाम् उपलक्षणार्थम् इति अपरार्कः. वायुस्तु वहन् शुद्धो न तु वस्त्रदशादिजन्यः

''**शिग्वातः शूर्पवातश्च वातः पाण्योर्मुखस्य च,**

सुकृतानि हरन्त्येते संस्पृष्टाः पुरुषस्य च'' (लिङ्गपुरा.)

इति मर्यादासिन्धौ लैङ्गात्.

शिग्वस्त्रदशा, बृहस्पतिः

''**द्राक्षेक्षुयन्त्राकरकारुहस्ता गोदोहनी यत्र विनिःसृतानि,**

बालैरथ स्त्रीभिरनुष्ठितानि प्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि''

(बृह.स्मृ.)

इति. स्वल्पोपहतियुक्तैः बालैः स्त्रीभिश्च यानि कृतानि तानि अशुचिभिः कृतानि इति प्रत्यक्षतो दृष्टान्यपि शुद्धानि इति व्याख्यातं मर्यादसिन्धौ.

देवलः

''**गोशकृच्छुद्धदेशस्थं श्मशानादुद्धतं शिवम्,**

अग्राम्या मृद्भवेत् शुद्धा शुक्रविण्मूत्रवर्जिता'' (देव.स्मृ.९।१९)

इति मर्यादासिन्धुप्रभृतिषु अन्यान्यपि स्त्र्यादिशुद्धिबोधकवाक्यानि बहूनि सन्ति तानि अनुपयुक्तत्वाद् न लिख्यन्ते. इति प्रकीर्णशुद्धिः.

२९. अथ आत्मशुद्धिविचारः.

सा च क्षेत्रज्ञस्य ईश्वरज्ञानाद् इति याज्ञवल्क्येन.

''**ज्ञानं तपोऽग्निराहारोमृण्मनोवार्युपाञ्जनम्,**

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम्'' इति

(मनुस्मृ.५ । १०५)

मनुना च श्रवणमननादिरूपज्ञानेन उक्ता. तथापि भगवता एकादशस्कन्धस्य एकविंशे ''**मत्स्मृत्या चाऽऽत्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् बुधः**'' (भाग.पुरा.११।२१।१४) इति कथनात्.

तृतीयस्कन्धेऽपि

''**यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्,**

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात्''

(भाग.पुरा.३।३३।६) इति.

द्वादशस्कन्धेऽपि

''**विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री–तीर्थाभिषेकव्रतदानजाप्यैः,**

नात्यन्तशुद्धिं लभतेन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते''

(भाग.पुरा.१२।३।४८)इति.

षष्ठस्कन्धेऽपि श्रीशुकैः सर्वपापानां निःशेषनिवारकतया भक्तिरेव उक्ता

''**केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः,**

अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः,

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः,

यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पूरुषनिषेवया'' (भाग.पुरा.६।१।१६)

इति कथनाच्च आत्मशोधने भक्तिरेव दृढः उपायः. न च ज्ञानेन अस्या विकल्पः इति शङ्क्यम्. तत्त्वावमर्शनस्य प्रायश्चित्तत्वकथने ''**वेणुगुल्ममिवाऽनलः**'' (भाग.पुरा.६।१।१४) इति दृष्टान्ते[पा.भे.११] किञ्चित्कालोत्तरं पुनःप्ररोहसूचनाद् भक्तौ च ''**नीहारमिव भास्करः**'' इति दृष्टान्तेन निःशेषपाप–नाशसूचनात्. ज्ञानोत्तरं भक्तेः कथनेन तत्पोषणाय अजामिलोपाख्यानोपन्यासेन तत्र च शैवस्य अगस्त्यस्य सम्मतिप्रदर्शनेन ज्ञानापेक्षयापि भक्तेरेव आधिक्यस्य भगवद्भक्तान् प्रति साधितत्वाच्च. किञ्च, लिङ्गशरीरस्यापि शुद्धिः आहारशुद्ध्या तच्छुद्धिश्च ज्ञानोपयोगिनी. ''**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**'' (छान्दो.उप. ७।२६।२) इति छान्दोग्यश्रुतेः. सत्त्वञ्च अन्तःकरणम्. तथा ''**अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपो मयः प्राणः तेजोमयी वाग्**'' (छान्दो.उप.६।५।४) इत्यपि छान्दोग्ये मनःप्राणवाचाम् आहारपरिणामत्वं तत्पोषितत्वं च अभिप्रेतम्. आहारशुद्धिश्च स्ववर्णाश्रमवृत्त्या सम्पादितान्नेन. तस्य च सिद्धस्य भगवत्समर्पणानन्तरं प्रसादतया तद्भोजनेन. तदुक्तं हरिवल्लभसुधोदयनिबन्धे ब्रह्माण्डे

''**पादोदकं पिबेद् नित्यं तन्निवेदितमग्रतः,**

अद्याद् आत्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामाप्तये तथा'' इति.

पाद्मेपि

''**मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने–दिने,**

सिक्थे–सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्,

भुक्त्वान्यदेवनैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्,

भुक्त्वा केशवनैवेद्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते''

इति. अतो ज्ञानपक्षेऽपि तस्य स्वरूपोपकाराय स्मरणादिरूपा भक्तिः अवश्यम् अपेक्षिता इति सुकरा इति च सैव आत्मशोधनार्थं सेवोपयोगाय च कर्तव्या इति दिक्.

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः।
नानानिबन्धानालोक्य द्वेधा शुद्धिः स्फुटीकृता ।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाम्बुजदासदासेन
पीताम्बरात्मजेन पुरुषोत्तमेन स्फुटीकृता द्रव्यशुद्धिः[पा.भे.१२] **सम्पूर्णा**
।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

(मुद्रितपुस्तके लिखिताः पाठभेदाः टिप्पण्यश्च)

१३.

१.यथा सक्तुहोमे अञ्जलिव्याकोशस्य औचित्यबलात् प्राप्तिः तथा. २.स्नानाङ्गीकारे दानार्थम् उपस्थापितस्य. ३.अत्र च इत्यपि पाठः. ४.निःस्रवोक्तिवैयर्थ्यापत्तिः. ५.वैयर्थ्यापत्तिवारणाय. ६.तद्वदशुचित्वापत्तेः. ७.सुप्तदोषः ८.चा.पा. ९.चकारोऽन्यपुस्तके नाऽस्ति.

१४.

१.क्वचित् शुद्धिपदं न दृश्यते ('शुद्धि'पदं ख–च पुस्तकेपि नास्ति). २.तस्याहतस्यार्थत्वबोधकं योग्यत्वबोधकम्. ३.शुचेः. ४.वस्त्रादीनि. ५.भगवतकर्मार्हत्वे. ६.दोषाभावः. ७.प्रोक्षणादिना. ८.वचनस्य. ९.त्यक्त इति पाठान्तरमपराके. १०.इति हेतोः अस्नातेन काष्ठादिभिः धौतवस्त्रस्य अपनयने अदोषः इति सम्बन्धः. ११.षटाम्बरविशेषम्. क्षौमं दुकूलं स्याद्वे तु निवीतं प्रावृतं त्रिष्वित्यमरः. १२.सहस्र.

१७.

१.पात्रस्य साधनेन गच्छति. २.शास्त्रादिनेति पाठः. ३.पनस इति भाषायाम्.

१९.

१. तन्तुवायः कुविन्दः स्याद् इति अमरः

२१.

१.अथेत्यारभ्य विचारपदपर्यन्तमन्यपुस्तके नास्ति. २.हारीतेन. ३.हारीतोक्तम्. ४.तावत्रथ्योपसर्पणादिदोषस्य. ५.ब्राह्मवाक्याशयः. ६.द्रव्यधारकपुरुषसम्बन्धेन. ७.पक्वान्नं कृतोपस्पर्शनपुरुषसंयोगात्. ८.एतदारभ्य माहात्म्यपदपर्यन्तमन्यपुस्तके नाऽस्ति.

२२.

१.ब्राह्मणादेः. २.अपूपाः दुग्धालोडिताः. ३.निषिद्धा.

२४.

१.जलाशयशुद्धिमाह इत्यन्यपु (ख-च पुस्तकेपि तथा), २.द्रव्यानल्पेति पाठः

उद्धृतवचनेषु पाठभेदाः

१. ''उदक्यास्पर्शने स्नानम् अंशुकेनान्तरापि वा,
तत्स्पृष्टेऽपि भवेत् स्नानं तुल्याः सर्वा रजस्वलाः'' (वृ.परा.स्मृ.८।३१५)

२. ''त्स्पृष्टेन संस्पृशेद् यस्तु ....'' (संव.स्मृ. १८४)

३. ''पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टि-तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने
सचैलोदकोपस्पर्शनात् शुद्ध्येत्''(गौत्त.स्मृ.१४)

४. ''चण्डालश्वपचैः स्पृष्टे ..., न वसेत् तत्र रात्रौ तु सद्यः स्नानेन शुद्ध्यति,
अथ वसेद् यदा रात्रावज्ञानाद् अविचक्षणः...''(लघुयम.स्मृ.६४,६५)

५. ''अस्तङ्गते यदा सूर्ये चाण्डालं पतितं स्त्रियम्, ...जातवेदं सुवर्णं च सोममार्गं विलोक्य च,
ब्राह्मणानुगतश्चैव स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति''(परा.स्मृ.७।११,१२)

६. ''अक्षुब्धानामपां नास्ति प्रभूतानां च दूषणम्, ..., ''(देव.स्मृ.१।९।४)

७. ''अक्षोभ्याणि तडागानि-नदीवापीसरांसि च,
कश्मलाशुचियुक्तानि तीर्थतः परिवर्जयेत्''(देव.स्मृ.१।९।५)

८. ''आतुरे ..., स्नात्वा-स्नात्वा स्पृशेद् एनं ततः शुद्ध्येत् स आतुरः''(परा.स्मृ.७।२०)

९. ''दुःस्वप्नं यदि पश्येत्तु वान्ते वा क्षुरकर्मणि,
मैथुने प्रेतधूमे च स्नानमेव विधीयते''(परा.स्मृ.१२।१)

१०. ''म्लेच्छलूताशनास्पर्शे क्षेत्रे वा यदि वा स्थले,
उपस्पृशेत् शिरः प्रोक्ष्य संशुद्धो जायते द्विजः''(वृ.परा.स्मृ.८।३१२)

११. ''विवाहोत्सवयज्ञेषु सङ्ग्रामे जलसम्प्लवे,
पलायने तथाऽरण्ये स्पर्शदोषो न विद्यते'' (वृ.परा.स्मृ.८।३०६)

१२. ''देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ...स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते''(अत्रिस्मृ.२४७)

१४. ''शूर्पवातनखाग्राम्बु-स्नानवस्त्रपदोदकं,
मार्जनीरेणुकेशाम्बु हन्ति पुण्यं दिवाकृतम्'' (अत्रिसं.३१६)

१५. ''क्षुते निष्ठीविते चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते,
पतितानाञ्च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्'' (परा.स्मृ.१२।१८)

१६. ''पित्र्यमन्त्रानुद्रवणे आत्मालम्भे अधमेक्षणे, ..., मार्जारमशकस्पर्शे ...,
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्''(कात्या.स्मृ.२।१३,१४)

१७. ''स्पृश्यमानोऽथ मां भूमि वातकर्म प्रमुञ्चति, पुरीषसदृशं वायुं वायुपीडितमानसः,
मक्षिका पञ्च वर्षाणि त्रयो वर्षाणि मूषकः,
श्वा चैव त्रीणि वर्षाणि कूर्मो वै जायते नव'' (वरा.पुरा.१३२।१,२)

१८. ''अथ सर्वाणि ...,अवर्ज्यभक्ष्यभोज्यानि ...''(देव.स्मृ.५)

१९.''वर्जिते निखिलद्रव्येऽशुचिसंज्ञा प्रवर्तते,

तस्मिन्नेवेह कर्मण्ये पूतसंज्ञा प्रवर्तते'' (देव.स्मृ.९।६)
२०. ''तस्माच्छुद्धं तु कर्मण्यं ... क्रियार्हं पूतमुच्यते''(देव.स्मृ.९।७)
२१. ''शिशवश्च ...,ब्रह्महत्या हि ..., आकरा हि ...निर्णयः,...''(देव.स्मृ.९।१०,१२,८)
२२. ''अक्षताः रोचना लाजा हरिद्रा चन्दनं यवाः'''(देव.स्मृ.९।२२)
२३. ''कालं देशं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्, उपपत्तिम् अवस्थां च विज्ञाय शौचं शौचज्ञः कुशलो धर्मेप्सुः समाचरेत्'' (बौधा.स्मृ.५।५५)
२४. ''दूषितं वर्जितं दुष्टं कश्मलं चेति लिङ्गतः, (२९) त्यक्तः पतितचाण्डालौ ग्राम्यसूकरकुक्कुटौ,(३१) मृतबन्धुरशुद्धश्च वर्ज्यान्यष्टौ स्वकालतः,(३२) आर्द्रं चर्मासृगित्येतद् दुष्टमाहुः द्विजातयः(३३) मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवानि च,(३४) (देव.स्मृ.९।२९-३४)
२५. ''दूषिते प्रोक्षणेनापि शुद्धिस्तूक्ता विधानतः, दृष्ये मार्जनसंस्कारैः कश्मले सर्वथा भवेत्'' (देव.स्मृ.९।३५)
२६. ''गण्डूषं पादशौचं च यः कुर्यात् कांस्यभाजने, भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुद्ध्यति, ...भूमौ निःक्षिप्य षण्मासम् अत्यन्तोपहतं शुचिः'' (अङ्गि.स्मृ.४१)
२७. ''शयनासनयानादि देहबन्धानि यानि तु, ...प्रचक्षते'' (देव.स्मृ.९.तैजसादिशुद्धिः)
२८. ''देवद्रोण्यां ..., काकैः श्वभिश्च संस्पृष्टम् अन्नं तन्न विसर्जयेत्, तस्मात् तदन्नम् उद्धृत्य ..., द्रवाणां प्लावनेनैव घनानां क्षरणेन तु, पाकेन मुखसंस्पृष्यं शुचिरेव हि तद् भवेत्'' (वशि.स्मृ.१८)
२९. ''कृत्वा मूत्रं पुरीषं च द्रव्यहस्तः कथं शुचिः, भूमावन्नं ...यथार्थतः, उत्संगे गृह्य पक्वान्नम् ...'' (आप.स्मृ.९।३४,३५)
३०. ''अस्थिचर्मावसिक्तेषु खरस्वानादिदूषिते, उद्धरेद् उदकं सर्वं शोधनं परिमार्जनम्, वापीकूपतडागानां दूषितानां च शोधनम्, उद्धरेत् षट्शतं पूर्णं पञ्चगव्येन शुद्ध्यति''(अत्रिस्मृ.२२७,२६).

देव.स्मृ. = देवलस्मृतिः. (१)''देवल स्मृति : रीकन्स्ट्रक्शन् एन्ड क्रिटिकल् स्टडि'' डॉ. मुकुन्द लालजी वाडेकर, आरिएन्टल् इन्स्टिट्यूट, म.स.युनि., वडोदरा. प्र.वर्ष : १९९६. (२) 'स्मृतिसन्दर्भ' खंड-३ में प्रकाशित. प्रकाशक नाग पब्लिशर्स्, दिल्ली. प्र.वर्ष : १९८८
शंखस्मृ. = शङ्ख-लिखितस्मृतिः. (१) सम्पादक : डॉ. अम्बालाल ठाकर, प्रकाशक : भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली. प्र.वर्ष २००३.(२) 'स्मृतिसन्दर्भ' खंड-३ में प्रकाशित. प्रकाशक नाग पब्लिशर्स्, दिल्ली. प्र.वर्ष : १९८८

नवीनपाठभेदावली

११/१. ''भाषायांभिरगुदालहरो(/टो)रा इति मध्यदेशे भासस्य नाम'' इति ख-च पुस्तके अधिकम् उपलभ्यते.
१५/२. 'सम्भारभृतानाम्' इति च पाठः.
२१/३. 'वाराहपुराणे' इति ख-च पाठः.
२१/४. 'लांङ्गम्' इति ख-च पाठः.
२१/५. 'लाङ्गम्' इति ख-च पाठः.

२२/६. 'शूद्रकृतपाकम्' इति घ पाठः.
२३/७. 'आपो' इति ख-च पाठः.
२४/८. 'द्रव्यानल्प..' इति च पाठः.
२६/९. 'कारणे' इति ख-च पाठः.
२८/१०. 'शुचित्वविधिः' इति ख-च पाठः.
२८/११. 'दृष्टान्तेन' इति ख-च पाठः.
२९/१२. 'द्रव्यशुद्धिदीपिका' इति ख-च पाठः.

